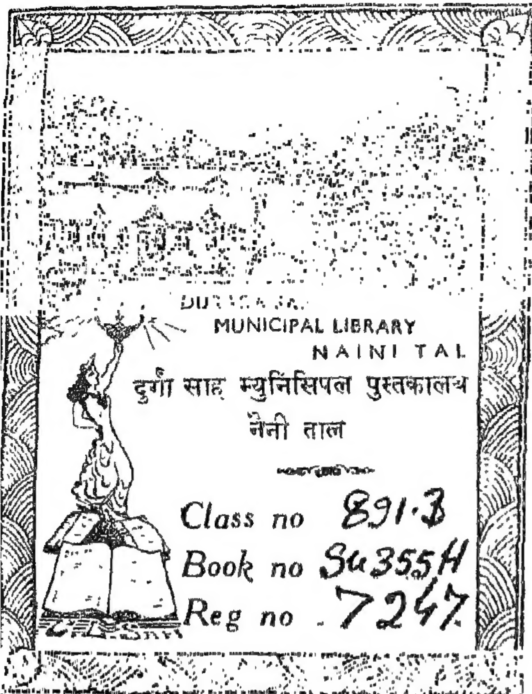


DURGA SAH
MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनी ताल
Class no 891.3
Book no Su355H
Reg no 7247

हार

(लेखक के हस्ताक्षर)

इस पुस्तक का संस्करण १०८० प्रतियों तक सीमित है। इस प्रति की संख्या है:

५३१

प्रत्येक प्रति लेखक द्वारा हस्ताक्षरित है।



सुमित्रानंदन पंत
(आयु १६ वर्ष)

हार

श्री सुमित्रानंदन पंत

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशन-तिथि : २० मई, १९६०

मूल्य दस रुपये

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

दो शब्द

'हार' उपन्यास श्री सुमित्रानंदन पंत की चवालीस वर्ष पुरानी कृति है। इसको उन्होंने १९१६-१७ के जाड़ों में, अपनी जन्मभूमि कौसानी में, लिखा था। यह अबतक प्रकाशित न हुई, इसका एकमात्र कारण यह था कि अपनी बाल-कृति के प्रकाशन के विषय में लेखक को बराबर संकोच रहा। तीस वर्षों से पुस्तक की हस्तलिपि मेरे पास थाती के रूप में रही है। मैंने लेखक के संकोच का आदर किया। लेकिन अब, जबकि लेखक की षष्टि-पूर्ति का अवसर आया है, मैंने समझा कि संकोच की अवधि पूरी होनी चाहिए। पंत जी ने पुस्तक के एक सीमित संस्करण के प्रकाशन की अनुमति दी। और इस प्रकार उनकी सर्व-प्रथम रचना पंत-साहित्य के प्रेमियों के सामने आ रही है।

यह बताना आवश्यक है कि पुस्तक की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। रचनाकाल के बाद के वर्षों में, पांडुलिपि में, अनेक स्थलों पर लेखक द्वारा ही पेंसिल से सुधार किए गए हैं। इस मुद्रण में उन सुधारों की उपेक्षा की गई है, जिसमें पुस्तक पाठकों के पास ठीक उस रूप में पहुँच सके, जिसमें वह सर्वप्रथम लिखी गई थी। वर्तनी के संबंध में सुविधा की दृष्टि कुछ स्वतंत्रता अवश्य ली गई है। जैसे पंचम अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग। इस तरह 'तरलङ्ग' और 'वञ्चित' के स्थान पर 'तरलंग' और 'वंचित' कर दिया गया है। 'सकना' शब्द बहुधा संयुक्त 'क्त' के साथ पांडुलिपि में मिलेगा। मुद्रित प्रति में समान रूप से 'सकना' रखा गया है। पहले, शब्दों को दुहराते हुए उनके आगे '२' का अंक लगाने

की प्रथा थी। यहां शब्दों को दो बार लिख दिया गया है। कहीं-कहीं अत्यावश्यक जानकर एकाध विराम-चिह्न लगा दिए गए हैं अथवा शब्दों के संयोजक चिह्न छोड़ दिए गए हैं। समालापों में जहां नामों का संक्षेपी-करण हुआ था, पूरे नाम लिख दिए गए हैं। जैसे 'विज०' न देकर 'विजया' दिया गया है। एकाध स्थलों पर, लेखक से परामर्श करके, मात्रादि की स्पष्ट भूलें सुधार दी गई हैं। नमूने के लिए मूल हस्तलिपि का एक पृष्ठ उद्धृत कर दिया गया है। पांडुलिपि रूलदार स्कूली कापी के आकार में २०५ पृष्ठों तक गई है। कुछ पृष्ठ एक दूसरी लिखावट में हैं। लेखक ने बताया कि वह उनकी भाभी जी की लिखावट है।

अपनी इस रचना के विषय में गत वर्ष लेखक ने एक वार्ता आकाशवाणी लखनऊ-इलाहाबाद से प्रसारित की थी। उस वार्ता को भूमिका के रूप में दिया जा रहा है। जब यह वार्ता प्रसारित हुई थी, तब लेखक के सामने पुस्तक की पांडुलिपि नहीं थी, इसलिए उन्होंने कथावस्तु स्मृति के आधार पर ही दी है।

मेरे एक नवयुवक मित्र ने पांडुलिपि पढ़ते हुए कहा था कि पंत जी की बाद की कृतियों के अनेक सूत्र उनकी इस सर्वप्रथम रचना में मिलेंगे। इसमें कोई आश्चर्य की बात न होनी चाहिए। लेकिन उन सूत्रों को जोड़ने का काम पंत-साहित्य के समीक्षकों पर ही छोड़ता हूं।

रामचंद्र टंडन

उपक्रम

चित्र

मेरी सर्व-प्रथम रचना

रचना उसे कहते हैं जिसमें किसी प्रकार का विधान, संयमन अथवा तारतम्य हो। इस दृष्टि से मेरी सर्वप्रथम रचना कविता न होकर उपन्यास ही थी। वैसे मैं छोटी-छोटी तुकबंदियाँ बहुत पहले से कर लेता था, पर उन्हें रचना कहने का साहस नहीं होता। मेरे बड़े भाई जब बी० ए० की परीक्षा देकर गर्मियों में घर लौटे तो वह हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के अनेक काव्य-ग्रन्थ, हिन्दी के मासिक पत्र आदि, तरह-तरह की रस सामग्री अपने साथ ले आए थे। मैं तब १०-११ साल का रहा हूँगा, मुझे ठीक याद नहीं पड़ता। भाई साहब कभी-कभी बड़ी भाभी को मेघदूत अथवा शकुंतला सुनाते, तो कभी सूर-तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियों के मधुर पद, सवैये और कवित्त; और कभी सरस्वती पत्रिका से आधुनिक खड़ी बोली की कविताएँ। भाई साहब का कण्ठस्वर बड़ा भावपूर्ण होता और वह बहुत तन्मय होकर मंद मधुर लय में अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरंजन के लिए प्रायः संध्या समय कविता-पाठ किया करते थे। बाहर हिमालय के ऊँचे स्वच्छ शिखरों पर तथा चीड़ और देवदारु की हरी-भरी घनी वनानियों में छाई हुई मौन मनोरम पहाड़ी साँझ अपने सुनहली छायाओं के निष्कंप पंख सिमटाए हुए, अवाक् होकर, जैसे उस एकांत कविता-पाठ को मेरे मन की अज्ञात गहराइयों में उड़ेलती रहती थी और मैं तल्लीन एवं आत्मविस्मृत होकर किवाड़ों की आड़ में खड़ा उस प्रणय-निवेदन से भरी मधुर छंद-ध्वनि का पान किया करता था। धीरे-धीरे मैं भी जैसे उन्हीं छंद ध्वनियों की आत्माओं से प्रेरित होकर शब्दों की मालाएँ पिरोने लगा और कभी-कभी गजल की धुन पर लड़खड़ाती हुई कुछ पंक्तियाँ भी जोड़ लेता। किन्तु

सर्वप्रथम रचना के, उस समय के लिए व्यवस्थित रूप में, मेरी लेखनी से पहले उपन्यास ही का प्रणयन हुआ, जिसकी चर्चा मैं संक्षेप में पहले भी कर चुका हूं।

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, मैं तब अल्मोड़े के गवर्नमेंट हाई स्कूल में आठवीं कक्षा में पढ़ता था और जाड़ों की लंबी दो-ढाई महीनों की छुट्टियों में अपने पिता जी के पास कौसानी गया हुआ था। कौसानी तो सौन्दर्य का स्वर्ग है ही। मेरे पिता सरकारी मकान में रहते थे। मकान बहुत बड़ा नहीं था, सब मिला कर सात-आठ कमरे रहे होंगे। उत्तर की ओर चहारदिवारी से घिरा हुआ आँगन था, जहाँ से अंतरिक्ष में दूध के समुद्र की तरह उफनाई ऊँची-ऊँची हिमालय की चोटियाँ दिखाई पड़ती थीं। आंगन में एक पत्थर का चबूतरा बना था जो संध्या के एकांत में मुझे किसी अदृश्य ऋषि के ध्यान-मौन आसन की तरह पावन एवं विचार-मग्न लगता था। आंगन के भीतरी बरामदे में खूब चहल-पहल रहती थी और परिवार के सभी लोग सबेरे-शाम प्रायः वहीं जुटा करते थे। तीन-चार कमरे पार करने पर पश्चिम की ओर एक छोटा-सा बरामदा था जो सड़क की ओर खुलता था। सड़क पर उतरने को तीन-चार पत्थर की सीढ़ियाँ थीं। सामने पहाड़ी पेड़ों का मर्मर करता हुआ हँसमुख क्षितिज दिन-रात कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता था। यह बरामदा ही मेरा छुटपन का सृजन-कक्ष था। उसमें एक कोने पर पिता जी की आफ़िस की मेज़ रहती थी और दूसरी ओर मेरी छोटी-सी डेस्क। पिता जी दिन भर आफ़िस में रहते थे, इसलिए उस छोटे-से एकाकी बरामदे का मैं ही एकछत्र अधिकारी था। यहीं बैठ कर मैंने अपनी सर्वप्रथम रचना का सूत्रपात किया था। जाड़े की अलस मधुर दुपहरी में उस चक्करदार सँकरी पहाड़ी सड़क पर न जाने नीचे की किन हरी-भरी तलहटियों और मखमली घाटियों से निकल कर उस छोटे-से उपन्यास के लिए मंद मंथर गति से आगे बढ़ते हुए नायक-नायिका और क़रीब आधे दर्जन पात्र-पात्रियाँ मेरी अधखुली स्वप्न-भरी आँखों के सामने कैशोर प्रेम की मुग्धता,

ममता तथा तन्मयता से भरा उस कथानक का सौन्दर्य पट बुन गए, मुझे अब ठीक-ठीक स्मरण नहीं। सम्भवतः अपने किशोर मन की कुछ अस्फुट भावनाओं एवं अस्पष्ट विचारों को कथा के रूप में गूँथने के लिए ही मैंने उस लघु उपन्यास की काग़ज़ की नाव को साहित्य के सिन्धु में प्रथम प्रयास के रूप में छोड़ने का दुःसाहस किया हो। उस काग़ज़ की नाव पर बैठ कर आधे दर्जन लोग बिना मानव मन की गहराइयों को छुए, बिना शिल्प की पतवार घुमाए या अनुभव के डाँड चलाए किस प्रकार ऊपर ही ऊपर भावों के फेन को चीरते हुए पार हो सके, मैं आज भी इस बात को सोच कर आश्चर्य में डूब जाता हूँ। खैर, किशोर मन ढीठ नहीं तो दुःसाहसी तो होता ही है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उस उपन्यास की पांडुलिपि इस समय मेरे पास नहीं है, वह मेरे एक स्नेही मित्र की आलमारी या संदूकची में दूसरे नगर में सुरक्षित रक्खी है—सम्भवतः मेरे बाल-चापल्य के उदाहरण के रूप में। पर अपने उस बाल-प्रयास के बारे में मुझे जो कुछ स्मरण है उसे आपके मनोरंजन के लिए निवेदन करता हूँ। उपन्यास का नाम मैंने रखा था "हार"। हार का अर्थ पराजय तथा माला—दोनों ही उस उपन्यास के कथ्य से सार्थक हो जाते थे। इस प्रकार "हार" शब्द में एक प्रकार का श्लेष था जो मुझे तब बड़ा व्यंजनापूर्ण प्रतीत होता था। कथानक छोटा ही था पर लिखने का ढंग अथवा अभिव्यक्ति अलंकरण-पूर्ण होने के कारण—जोकि उस अवस्था के लिए स्वाभाविक ही था—उपन्यास मानव-चरित्र एवं मनोविज्ञान से अधिक मेरे शाब्दिक ज्ञान का ही परिचय देता था। उसकी पृष्ठ-संख्या सम्भवतः २०० के लगभग होगी। कथानक कुछ इस प्रकार था : एक भावुक युवक एक नवयुवती के रूप से आकृष्ट होकर, उसे बिना अपना प्रणय निवेदन किए, चुपचाप अपने हृदय के आसन पर बिठा लेता है। युवती अपने मां-बाप के साथ ग्रीष्म ऋतु में एक दो महीनों के लिए किसी पहाड़ी प्रांत में घूमने-फिरने के लिए आई हुई है। प्राकृतिक सौन्दर्य के उस मनोरम

प्रदेश में अबोध युवक और युवती प्रतिदिन परस्पर के संपर्क में आकर भद्रता और शील का अभिनय करते हुए अज्ञात रूप से एक-दूसरे की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते जाते हैं। किन्तु युवती को वस्तुस्थिति का बोध पहले हो जाने के कारण वह धीरे-धीरे सतर्क हो जाती है और युवक को प्रणय निवेदन का अवसर न देकर, उसके हृदय में प्रेम की अतृप्ति का नैराश्य एवं विषादपूर्ण अंधकार भर कर, एक दिन बिना उसे पूर्व-सूचना दिए अपने माता-पिता के साथ उस पर्वत-प्रदेश को छोड़ कर चली जाती है। युवक इस अप्रत्याशित मूक विछोह से क्षुब्ध होकर विरक्त हो उठता है और उसे मानव-जीवन का समस्त व्यापार तथा व्यवहार खोखला एवं आस्थाशून्य लगने लगता है। वह प्रेम की मृग-मरीचिका से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर मानव-जीवन के उचित ध्येय की खोज करता है और अपने अध्ययन तथा चिन्तन से इस परिणाम पर पहुँचता है कि निःसंग रह कर लोक सेवा करने से ही आनंद तथा आत्म कल्याण की उपलब्धि संभव हो सकती है। वह अपने कुछ नवयुवक साथियों को लेकर नैतिक जीवन बिताने के लिए शायद एक आश्रम की स्थापना करता है। मानव-जीवन का गहरा अनुभव न होने के कारण मैंने तब "हार" और "ग्रन्थि" दोनों ही गद्य-पद्य कथाओं के नायकों को प्रेम-संन्यास दिला कर, विरक्त बना कर छोड़ दिया है।

जब मैं अपनी उन दिनों की मनोदशा का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे स्मरण आता है कि "हार" लिखने के समय मैं अपने भाई से सुनी हुई रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना, शकुंतला की प्रेमकथा तथा मेघदूत की वियोग-व्यथा से ज्ञात-अज्ञात रूप से काफ़ी हद तक प्रभावित था। मैंने भाई साहब की पुस्तकों में से बिहारी सतसई तथा तिलक की गीता का भी तब अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार अध्ययन अवश्य कर लिया था, क्योंकि "हार" में यत्र-तत्र एकांत प्रणय-निवेदन अथवा रूप-वर्णन के रूप में बिहारी के नाविक के तीरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है और प्रेम-वंचित हृदय

को सांत्वना देने के लिए, मैंने भी उपन्यास की शैली के अंतर्गत भावुकता को प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। तब किसी अखबारों में स्वामी सत्यदेव आदि बड़े लोगों के जो भाषण होते थे, उनमें देशभक्ति एवं लोक-सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था। उन सब परिस्थितियों एवं नैतिक वातावरण से लाभ उठा कर मैंने अपने विचारों तथा भावनाओं को अभिव्यक्ति वाणी देने के अभिप्राय से ही सम्भवतः "हार" नामक उपन्यास की रचना की होगी, क्योंकि छंद में तब अपनी गति उतनी न होने के कारण, अपने अंतर के किशोर मन को, नित्य बढ़ती हुई भावनाओं के बोझ से मुक्त करने के लिए, मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पड़ा होगा। सम्भवतः, मुझे अब स्मरण नहीं पड़ता, मैंने भाई साहब के पुस्तकालय से दो-एक उपन्यास भी तब लेकर अवश्य ही पढ़ लिए होंगे, क्योंकि तब, मुझे याद है, हम बच्चों [illegible] और हमें उपन्यास-कहानी आदि पढ़ना मना था। भाई साहब के कभी घर से बाहर घूमने-फिरने के लिए निकलने पर मैं किस सुख एवं उत्साह के साथ उनकी पुस्तकों की अलमारियों पर टूट कर कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकों को जल्दी-जल्दी उलट-पलट कर पढ़ा करता था, यह मुझे याद है। और कभी-कभी अपनी मन-भावन पुस्तक भाई साहब को मेरे सिरहाने तकिए के नीचे रखी हुई भी मिल जाती और तब उनकी व्यंग्य-भरी भर्त्सना को सहना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता था। मैं कई दिन तक उन्हें मुँह दिखाने में शरमाता था।

मैंने अपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियों के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पाकर अपना किशोर उपन्यास "हार" लिखा था—जो मेरी सर्वप्रथम रचना कही जा सकती है।

१९६०. सुमित्रानंदन पंत

असाधारण चरित्र से अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा।

मुक्ताने जब देखा कि मैंने जिन अश्रु-बिन्दुओं के साथ अपने आत्मा की दुर्बलता तिरस्कार के साथ बहा दी थी, उन्हीं अश्रु-बिन्दुओं को नरलोक के उदार हृदय ने अपने में मिला लिया है और जब उसे अन्वेषण करने पर भी नहीं मिले कि मेरे अश्रु-बिन्दु नरलोक के दलित-हृदय में किस स्थान पर गिरे थे, तब उसकी दशा और भी विचित्र होगई। वह सहसा कह उठी —

नरलोक ! तुम्हारा हृदय धन्य है ! तुम धन्य हो ! प्रत्येक वायु के अदृश्य-स्पर्श का भी तुम्हारा हृदय इतनी उत्सुकता से स्वागत कर रहा है ! तुम सहृदयता के सरोवर हो ! तुम विशाल हो ! तुम्हारे निर्मल हृदय में अपने बड़े होने के अभिमान का कहीं पर एक काला-छींटा भी नहीं है ! तुमने मेरे तिरस्कार के साथ फेंके अश्रु-बिन्दुओं को भी इतना सम्मान दिया। तुम इतने बड़े होजाने पर भी नहीं भूले कि मेरा हृदय इन्हीं क्षुद्र-क्षुद्र बिन्दुओं से बना है।

'हार' की पांडुलिपि का एक पृष्ठ

(मूल ७½" × ६⅛")

प्रथम पुष्प

हार

बसंत-पंचमी का दिवस है। आराम-बन की शोभा कहते नहीं बनती है। इस बन में अतीत काल से श्री दुर्गादेवी जी का वास है। इसीलिए यह बन अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। प्रातःकाल का सुहावना समय है। एक चारण का बालक आराम की शोभा का इस प्रकार वर्णन कर रहा है—

ऋतुराज-राजगृह दृगभिराम-आराम-रम्य
सन्मुख रखता है ऋतुपति की सम्पति - असाम्य।
ऊषा सुवर्ण सा वर्ण लिए वर्णनातीत
फूले फूलों में फूल रही है झूल झूल।
शुचि-सुमन-मनोरम मनोरमा के रम्य रूप
मन रमा रहे हैं पद्मा के पद-पद्मों में।
सु-रसाल-शाल हैं खड़े विशाल - रसाल अहा।
रस सरसाते हैं विरस - रसा में सरस - सदा।
मृदु मन्द गन्धमय गन्धवह - वहन मन बहला,
मुदमय करता है मनोमलिनता मिटा महा।
है मधुर - रस - रसन लेता मधु - प्रिय मधुप - पुंज
फूला न समाता, समुद समाता फूलों में।
फल सकल-कमल-दल खिले खिलौने से लोने

सज सहज सजल हैं खेल रहे ऊषा-कर में।
आभास अरुण की आभा का सु-अरुण जिनमें
लालिमा सलज्जा के मुख की है लजा रहा।
अवलोक लोक में फिर से नव-आलोक-कला
हैं गुणातीत के विहग गहन-गुण-गण गाते।

सचमुच में आज आराम-बन की प्रातःकालीन शोभा अत्यन्त सुन्दर हो रही है। इस बन में एक बहुत विस्तृत सरोवर भी है। इस सरोवर में तरंगिणी नदी गिरती है। तरंगिणी आराम की उत्तरी पहाड़ियों से प्रसूत होती है। इस नदी के प्रवाह के कारण इस सरोवर की तरल-तरंग-क्रीड़ा देखने के योग्य होती है। इसी के कारण इस सरोवर का नाम तरलंग भी पड़ा। तरलंग के जल का निकास दक्षिण की ओर है।

श्री दुर्गादेवी जी का मन्दिर तरलंग के पश्चिमी तट में है। तरलंग पूर्व तथा पश्चिम की ओर विस्तार में अधिक है। इसके तट में बैठने के लिए स्वच्छ शिलाएँ रक्खी हैं। इस सरोवर के कारण आराम की शोभा और भी बढ़ गई है।

विजया आज श्री दुर्गादेवी जी के दर्शन के लिए आई है। उसके एक हाथ में अर्चन के उपकरण से सज्जित चाँदी का एक स्वच्छ थाल है। 'मृदु कमल माल है द्वितिय कमल-कोमल कर में।' विजया के साथ एक बालिका भी आई है। बालिका की अवस्था प्रायः सात वर्ष की होगी। वह विजया से विविध-प्रसूनों के नाम पूछती जाती है। विजया उसे फूलों के नाम

बताती हुई तरलंग के किनारे किनारे दुर्गादेवी जी के मन्दिर में पहुँची।

है पौर पर टँका घंट चित्र-चर्चित - अर्चित
जो शान्ति शान्ति कह बजा आगमन जतलाते।
तब श्री देवी के गले कमल की माल डाल
वह हाथ जोड़ कर मूर्ति सी रही मूर्ति निकट।
फिर लता सी लिपट गई चरण-द्वय में शिर धर
है भक्ति शक्ति का मेल अपूर्व अमोल अहा!

विजया ने श्री चरणों का चरणामृत लिया। तथा श्री देवी जी के पद-पद्मों से एक पत्र उठाकर बालिका के शिर में रक्खा। विजया ने एक फूल उसके हाथ में भी दे दिया। बालिका इस फूल को लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो गई। विजया घण्टा बजाकर मन्दिर से बाहर आ गई। बाहर आने पर बालिका उससे विविध प्रकार के प्रसून तोड़ने के लिए अनुरोध करने लगी। विजया इधर उधर से विविध पुष्प चयन कर उसे देने लगी।

"आओ आशा, तुम्हारे लिए मैं अच्छे से प्रसून तोड़ दूँगा"—कहता हुआ भविष्य भी दौड़ कर आशा तथा विजया के पास आया। आशा उसे देख कर बड़ी प्रसन्न हुई। भविष्य की अवस्था भी छोटी थी। वह तथा आशा सदा इस बन में खेलने को आया करते थे। भविष्य आशा से कुछ बड़ा होने के कारण तथा पुरुष होने के सबब भी वृक्षों में चढ़कर फूल तोड़ के आशा के लिए विविध प्रकार के सुन्दर सुन्दर गहने गूँथ देता था। इसीलिए आशा का

भी उससे अच्छा स्नेह हो गया था। आशा बोली—भविष्य, हमारे लिए पारिजात के फूलों का एक सुन्दर हार गूँथ दो।

भविष्य पेड़ में चढ़ कर पारिजात के पुष्पों का एक सुन्दर हार गूँथ लाया और उसने वह बड़े चाव से आशा के गले में डाल दिया। आशा बड़ी प्रफुल्लित हो गई। पारिजात के फूलों के बीच में उसके मुख की सुन्दरता और भी बढ़ गई। विजया को भी आशा का यह शृंगार अत्यन्त सुन्दर लगा। वह भविष्य से बोली—भविष्य, आशा भी तुम्हें भविष्य में हार पहनावेगी।

आशा इसका कुछ भी तात्पर्य न समझ सकी किन्तु भविष्य समझ गया। वह आशा के मुख की ओर देख कर हंसने लगा।

तदुपरान्त विजया गृह-कार्य की चिन्ता से घर को चली गई। उसका विवाह हो गया था। उसकी अवस्था सोलह वर्ष की होगी। आशा भविष्य के साथ इसी वन में रही। उन दोनों में बहुत काल तक खेल होते रहे। भविष्य ने आशा के लिए और भी फूलों के गहने बना दिए। आशा बाल-वन-देवी सी प्रतीत होने लगी। भविष्य ने अपने लिए भी एक लम्बी माला बना ली।

दोनों में अपार मित्रता थी। दोनों स्नेह के गुम्फाय-सूत्र में गुँथे हुए थे। दोनों खिलाड़ी थे।

द्वितीय-पुष्प

तिरस्कार

संसार में सौन्दर्य कहाँ कम है ? कोई वस्तु तो दृष्टि-पथ में सौन्दर्य-हीन विचरती ही नहीं। इन नयनों का न जाने कैसा स्वभाव है ! ये कभी बालुका राशि में विलीन हो जाते हैं, कभी वृक्ष-छाया में छिप जाते हैं, कभी जल की तुतली तरंगों के साथ उछलते हैं, कभी जल के तुतले बिम्ब के साथ विहार करते हैं, और कभी ओस के निर्मल बिन्दुओं में ही डूब जाते हैं। इनका न जाने कैसा विभव है ! कैसा आनंद है ! मैं इन्हें निकालती निकालती रह जाती हूँ, सुलझाती सुलझाती थक जाती हूँ, समझाती समझाती ऊब जाती हूँ, किन्तु ये फिर उलझ जाते हैं ! मेरा समझाना सब व्यर्थ जाता है !

मा ! तुम्हारा विश्व इतना सुखद क्यों है, तुम्हारी कृति इतनी रमणीय क्यों है, तुम्हारी आभा इतनी आनन्ददायिनी क्यों है, तुम्हारी विधि इतनी नवीन क्यों है, तुम्हारा शृंगार इतना सुन्दर क्यों है ?—तुमने यह कभी नहीं बतलाया। कभी नहीं समझाया।

मैं नित्य तुम्हारे पास बैठती हूँ, आँखें मूँद लेती हूँ, हाथ जोड़ती हूँ। तुम्हें आह्वान देती हूँ विजन स्थान में बैठकर बुलाती

हूँ, मन ही मन पुकारती हूँ—आओ मा! इन नयनों के सम्मुख! आओ, अम्ब! मन्द मुसकाती हुई! वीणा बजाती हुई! मधुर गाती हुई!

तुमसे विनय करती हूँ—आओ, मात! मुझे मेरी बातों का उत्तर दो, मुझे अपनी लीला समझाओ। किन्तु तुम कभी नहीं बोलती हो! कभी नहीं आती हो! मैं तुम्हारा ध्यान करती हूँ, तुम्हारे अङ्गों को दृष्टि के सन्मुख निर्मिती हूँ। सुन्दर मुख बनाती हूँ दिव्य-मणि-मण्डित मुकुट पहनाती हूँ, श्वेत वस्त्र पहनाती हूँ, गले में श्वेत-मुक्ताओं की माला डालती हूँ, मसृण-मृणाल सी बाहों में वीणा देती हूँ, तुम्हें हंस के ऊपर बैठाती हूँ! फिर प्यार के साथ तुम्हें पुकारती हूँ—मा! जननि! अम्ब!—पर तुम कुछ भी उत्तर नहीं देती हो!

मैं तुम्हारे गीतों को गाती हूँ—'जगमग मणि मोतिन सुमुकुट-शिर चारु चार कर वर हारन छवि; हारक तारक तारक-पति द्युति, तारक तारक कर जग जाना"—गा गा कर तुम्हें रिझाती हूँ; किन्तु तुम फिर भी नहीं बोलती हो। बतलाओ मा! तुम्हारी सृष्टि इतनी सुन्दर क्यों लगती है? तुम्हारा स्मरण इतना सुखद क्यों प्रतीत होता है? तुम्हारा ध्यान इतना अभिराम क्यों लगता है? जिस समय मैं अत्यन्त विकल हो जाती हूँ, उस समय तुम्हारा ध्यान आते ही मेरी आकुलता क्यों नष्ट हो जाती है? कहो मा! आज मुझसे अपनी सब बातें कहो। आज मुझे मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। बतलाओ मा! क्या तुम इसी

सौन्दर्य में हो ? क्या तुम इसी आनन्द में हो ? इसी सुख में हो ? क्या —

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति,
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।"

—का यही अर्थ है ? कहो मा, तुम कहाँ छिपी हो ? क्या तुम मेरी पूजा की दीपावलि के मंजुल मेल में हो ?—आज मुझे अपनी सब बातें बतलाओ।

सुफला अपनी खिड़की के पास बैठी इसी प्रकार ध्यान-मग्ना थी। उसकी खिड़की से आराम का एक भाग अच्छी प्रकार दिखाई देता था। आराम अस्तासन्न-रवि की अन्तिम किरणों से स्वर्ण-वर्ण हो रहा था। सुफला कहने लगी—अहा ! श्रेष्ठ पुरुष अन्तिम समय तक परोपकार का महामन्त्र नहीं भूलते !

इतने में सुफला ने देखा कि आराम का मृग उस खिड़की के पास ही हरी हरी दूब चर रहा है। मृग के बदन में भी रवि की सुनहली किरणें पड़ रही थीं। उसने अपनी सुन्दर सुन्दर आँखें एक बार सुफला की ओर डालीं। सुफला कुछ भयभीत होकर साथ ही हँस पड़ी। उसे मारीचि का स्मरण हो आया। वह कहने लगी—यह कनक-मृग कौन ?

सुफला को समस्त मृग-वाली बातें याद आ गईं। उसे सोचते सोचते प्रतिभा के मृग-शावकों की स्मृति आई। एक बार

प्रतिभा ने उन्हें बुलाया था, वे उसके पास नहीं गए थे। सुफला को मीना की याद आई। उसकी मधुर गाने की ध्वनि एक बार प्रतिभा के कानों में पड़ी थी। मीना ने एक बार प्रतिभा से कहा था—"बाई, तुम तो बड़े घर की बेटी हो, तुम पहाड़ों में कैसे चढ़ सकोगी ? हमारा तो वही घर है।"—यह याद आते ही सुफला की आँखें सजल हो आई। वह कहने लगी—हाय ! मा, यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? क्या मेरी प्यारी मीना को पहाड़ों पर चढ़ने में कष्ट न होता होगा ? क्या उसके पाँव नहीं दुखते होंगे ? मीना ! तुम्हारे इन बचनों में कितनी सूक्ष्म सरलता भरी है ? कितना महत् औदार्य अंतर्हित है ? बहिन, तुम अपने पाँवो को प्रतिभा के पाँवो से इतने कठोर क्यों समझती हो ? "हमारा तो वही घर है" कहने में तुम्हारे हृदय को किस अज्ञात आनन्द ने छुँआ ? मेरे मन की मीना ! तुम अपने को इतनी दीना क्यों समझती हो ?

सुफला के हृदय में धीरे धीरे मीना के सरल हृदय का चित्र खिंच गया। वह उसके उस अलभ्य स्वतन्त्र जीवन की आलोचना करने लगी, सुफला का हृदय आनन्द से गद्‌गद हो गया। उसके ध्यान में आया—मीना का वंशी सा मीठा गाना ! वंशी सा सीधा जीवन !

इतने में ही उसके कमरे में आशा आ पहुँची। आशा के हाथ में "प्रतिभा" थी। सुफला को मानों उसका अभीष्ट प्राप्त हुआ। वह आशा के हाथ से पुस्तक लेकर इस प्रकार पढ़ने लगी—

"राजकुमार प्रतिभा का हाथ पकड़े पर्वत-शिखर पर जा रहे थे। किन्तु प्रतिभा को अत्यन्त कष्ट होने लगा तथा उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।" सुफला रुक गई और आशा से कहने लगी—क्यों सखी, प्रतिभा को कैसा कष्ट हुआ होगा ? क्या उसके कोमल करों से राजकुमार के हाथ अत्यन्त कठोर थे ?

आशा अपनी सखी के मुख से ऐसी बेतुकी बातें सुन कर ज़ोर से हँसने लगी। और सुफला को कितनी ही स्नेह-भरी गालियाँ देने लगी। सुफला फिर पढ़ने लगी। "राजकुमार प्रतिभा के इस व्यवहार से कुछ असन्तुष्ट होकर बोले—क्यों प्रतिभा ! क्या मैं तुम्हारे हाथ पकड़ने के योग्य नहीं हूँ ? प्रतिभा ने इसका उत्तर कुछ भी न दिया।"—सुफला फिर ठहर गई तथा अपनी सखी से बोली—देखो आशु, क्या कुमार ने प्रतिभा के इस व्यवहार से असन्तुष्टि प्रकाशित करनी थी ? पुरुषों का हृदय भी न जाने किस द्रव्य का बना होता है ! वे एक साधारण सी बात को न समझ कर अपनी स्त्रियों के ऊपर रोष प्रकाशित करते हैं। स्त्रियाँ लज्जावश कई बार अपने स्वामियों की आज्ञा पालन करने में सक्षम नहीं हो सकती हैं। किन्तु वे इसे नहीं समझते। और देखो सखी, प्रतिभा कितनी सलज्जा है ? वह कुमार को इसका उत्तर तक न दे सकी।

आशा—सखी, तू प्रतिभा होती तो क्या कहती ?

सुफला—यही कहती कि आपके छूने से मेरे हाथों से लज्जा का कंकण गिरा जा रहा है। मेरे हाथ बिना इस अलंकार के कल आप ही की दृष्टि में शोभाहीन जँचेंगे।

आशा—क्या प्रतिभा का मौन रहना ही यह प्रकट नहीं करता ?

सुफला ने इसके उत्तर में केवल हँस दिया। वह फिर "प्रतिभा" के पन्ने लौटाती हुई इस प्रकार पढ़ने लगी—"उमा के दोनों कपोलों पर एकाएक ललाई झलक आई, ऐसा जान पड़ता था कि वह ललाई कुमार की कौतूहल-पूर्ण किन्तु शीलता-रहित दृष्टि का तिरस्कार कर रही है। बालिका का वक्षःस्थल जोर से धड़कने लगा मानों कुमार के वहाँ ठहरने का प्रतिवाद करने लगा।"

सुफला इतना पढ़ कर हँसने लगी। आशा के दोनों कपोलों पर भी ललाई झलक आई थी। सुफला इसका रहस्य न जान सकी। आशा के गोरे तथा गुलाब से मुख में अस्ताचल गामी सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। देखने से प्रतीत होता था मानों कमलों में ऐसा सौन्दर्य न पाकर रवि की किरणें इस पद्मिनी के मुख की श्री-सुषमा देख इसी के मुख में अटक रही थीं।

सुफला ने आशा के मुख का अरुण वर्ण देख कर हँसते हँसते पूछा—क्यों आशु, तेरे मुख की अरुणिमा किसका तिरस्कार कर रही है ?

आशा ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—उस सुवर्ण-कान्ति सूर्य का।

आशा के मुख से ऐसा नवीन उत्तर पाकर सुफला जोर से हँस पड़ी। उसके पीछे से आवाज आई—झूठ, भविष्य का !

सुफला ने विजया की आवाज पहिचान ली। वह पीछे को फिर कर कहने लगी—क्यों दिद्दी, तू यहाँ कब से हमारी बातें सुन रही है ? आशा की अरुणिमा किस भविष्य का तिरस्कार कर रही है ?

विजया—स्मृति-पट पर अंकित भविष्य का, दृष्टि-सन्मुख अदृश्य भविष्य का—उस आशामय भविष्य का ! और किसका ? क्या तू—

आशा ने विजया का मुख अपने हाथ से बन्द कर दिया। और तरह तरह की बातें कह उसका सस्नेह खूब तिरस्कार किया। सुफला हँसने लगी। जब आशा ने विजया का मुख छोड़ दिया तो सुफला फिर पूछने लगी—क्यों सखी, तूने यह कैसे जाना ? आशा भविष्य दद्दा का तिरस्कार क्योंकर करने लगी ?

विजया—कल तूने ही तो पढ़ कर सुनाया था कि हृदय की भाषा तथा मुख की भाषा भिन्न नहीं होती है। मुख हृदय के भावों का दर्पण है। देखती क्यों नहीं, आजकल बिचारी का किसी कार्य में चित्त नहीं लगता।

सुफला—भविष्य दद्दा ने क्या किया जो यह उनका तिरस्कार करती है ?

विजया—ये तो वे या यह जाने। मैं तो इनकी भाव-भंगी से ही यह सब अनुमान करती हूँ। सुन, आज नौ वर्ष की बात है कि—तब यह आशा छोटी सात वर्ष की थी—मैं इसे लेकर बसन्त-पंचमी के दिवस आराम में पूजा करने के लिए गई थी। वहाँ कुछ

काल बाद भविष्य भी आ पहुँचा था। उस दिन भविष्य ने इसको पारिजात के पुष्पों का हार गूँथ कर पहनाया था। मैंने उससे कहा था कि आशा भी भविष्य में तुझे हार पहनावेगी। किन्तु उसे तब से यह बात याद है। अब उसका स्नेह इसके लिए और भी बढ़ गया है। और आजकल मैं देखती हूँ कि यह उससे बोलने में भी सकुचाती है। तभी तो मैंने कहा कि आशा की अरुणिमा भविष्य का तिरस्कार कर रही है।

आशा यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हो गई। और वहाँ से जाने को उद्यत हुई। किन्तु सुफला ने यह जान कर तुरन्त उसका पक्ष ले लिया। वह कहने लगी——दिद्दी, इसका अर्थ यह भी तो हो सकता है कि आशा उस भविष्य का तिरस्कार कर रही है जिसमें वह भविष्य दद्दा को हार पहनाती। वह अब बड़ी हो गई है इसीलिए भविष्य दद्दा से नहीं बोलती होगी।

आशा ने सुफला के हाथ को धीरे धीरे दबाया। सुफला चुप हो गई। उसे मन ही मन बड़ा आनन्द हुआ कि आशा भविष्य को चाहती है। वह फिर "प्रतिभा" के पृष्ठ लौटा कर इस प्रकार पढ़ने लगी——"प्रतिभा राजकुमार के साथ बड़ी सावधानी, लज्जा, विनय तथा सम्मानपूर्वक बातें किया करती थी। अब उसमें बालकपन के समान चपलता, सरल हँसी, और संकोच-रहित व्यापार न रहा था। अब वह कुमार से साक्षात् न करती थी। प्रायः अस्वस्थता का बहाना बता देती।"——सुफला इतना पढ़ कर आशा की ओर देख कर हँसने लगी। आशा ने मुँह फिरा लिया।

सुफला फिर पढ़ने लगी—"राजकुमार प्रतिभा का यह व्यापार समझने पर भी नहीं समझे ! उसके इस व्यवहार से उनका प्रेम प्रतिभा की ओर बढ़ने के बदले उलटा कम होने लगा।" सुफला ने पुस्तक बन्द कर दी। आशा से वहाँ और न रहा गया। उसने सुफला के हाथ से पुस्तक ले ली और वह किसी कार्य का मिस बतला कर चली गई।

आशा के हृदय में प्रतिभा के उस अन्तिम वाक्य से क्या प्रभाव पड़ा, यह यथासमय मालूम हो जावेगा।

आशा के चले जाने के बाद विजया भी दीपक बाती का समय निकट जान कर चली गई। सुफला फिर एकाकी रह गई। भास्कर-भगवान अब डूब गए थे। सुफला भी धीरे धीरे अपने विचारों में डूब गई। वह आशा तथा भविष्य के सम्बन्ध की आलोचना करने लगी। वह सोचने लगी कि—आशा तथा भविष्य का पहिले ही से सम्बन्ध है। आशा सदा भविष्य में ही लीन रहती है तथा वह भविष्य की ही होती है। भविष्य ही आशा का जीवन है। आशाहीन भविष्य भी शुष्क तथा निष्प्रभ लगता है। आशा ही अदृश्य भविष्य की पथ-प्रदर्शिका समुज्ज्वल दीप-शिखा है। वही अन्धकारमय भविष्य के हृदय में सुन्दर आलोक है—सुफला इसी प्रकार कई बातें सोचने लगी। वह मानो भविष्य और आशा की भविष्य तथा आशा से तुलना करने लगी। अन्त में वह यह विचारने लगी कि आशा तथा भविष्य का सम्बन्ध सदा सुखमय ही नहीं होता। आशा अत्यन्त आकर्षणीया है सही किन्तु भविष्य के

हृदय-मरु में सलिल-स्रोतस्विनी सी है जो मोह की प्यासी आँखों को प्रलोभन दे, जीवन को जीवन दिखला, अन्त में निर्जीव कर देती है। सुफला के हृदय में सहसा इस प्रकार का भावोदय न जाने कैसे हो गया! उसने फिर इस विषय में कुछ नहीं सोचा। वह खिड़की से अनन्त आकाश की ओर देखने लगी। उसे एक टिम-टिमाता हुआ तारक दिखलाई दिया। वह सोचने लगी सगुन बुरा है! उसे सहसा "एक तारो मया दृष्टः" याद आया। वह कहने लगी—अनन्त-विस्तृत नभ-मण्डल में केवल एक क्षुद्र दीपक? इतने बड़े भारतवर्ष में केवल एक नेता? इसीलिए एक तारक को देखने में दोष मान रक्खा है। इतने विस्तृत व्योम के लिए एक तारक को धारण करना भी अपमानकारक है! इसीलिए इसको देखना अनिष्टकारी बतला रखा है। सुफला बार बार नारदादि ऋषियों को प्रणाम करने लगी। वह फिर सोचने लगी कि तारक से भारत-नेता की उपमा देना ठीक नहीं। उसका उपमान चन्द्र है। उसे याद आया—

> **"कुलहि प्रकासै एक सुत, नहिं अनेक सुत निन्द**
> **एक चन्द्र सब तम हरै, नहिं उडगण के वृन्द।"**

सुफला उस क्षुद्र तारक का और भी तिरस्कार करने लगी। वह कहने लगी मेरे दृग-तारक तक दो हैं। एक नहीं। और मेरे हृदय-तारक तो तारकों से भी असंख्य हैं। मैं एक ही तारक को क्यों अपनाऊँगी? मा की सारी सृष्टि मेरी ही तारक है। एक

तो मुझे मा ने अपने से स्वयं भिन्न कर रक्खा है। तिस पर भी मैं अपना हृदय-तारक किसी एक को बना कर मा की सुन्दर सृष्टि से क्यों भिन्न हूँगी? अहा! यह संसार कितना सुन्दर है! एक केवल संसार-तारक ही है। उसी सर्व-शक्ति को अनन्यता शोभा देती है।

इतने ही में दासी हाथ में दीपक लिए हुए सुफला के कमरे में आई। सुफला को दीपक देख कर भी अत्यन्त आश्चर्य होता था। उसे दीपक को देखते ही याद आ जाती थी—"...तले अँधेरो दीप।" सुफला की दृष्टि दीपक के तले अन्धकार में ही विलीन हो जाती थी। उसकी जिज्ञासा, उसकी उत्कण्ठा मानो उस अन्धकार में किसी को ढूँढ़ती थी। उसकी अन्वेषण भरी कातर दृष्टि के प्रभाव से दीप की शिखा भी चंचल हो जाती थी। सुफला कभी उस अन्धकार से पूछती थी—तम! क्या तुम मेरी अनन्त शान्ति-दायिनी मा के पदों की छाया हो? तिमिरवर! एक बार मुझे अपना अदृश्य-अंचल टटोलने दो! क्या मेरी मा के पद तुम्हारे ऊपर अनन्त छत्र की तरह छाया करते हैं? क्या तुम्हारी गोद से शीश उठाते ही मुझे मा के दर्शन हो जावेंगे? क्या मैं खड़ी होते ही मा के पद-पद्मों के पास पहुँच जाऊँगी? किन्तु तिमिरबन्धु! कहीं तब मैं उसके पदों की छाया से भी हाथ न धो दूँ! कहीं मैं तुम्हारे लिए कृतज्ञता प्रकट करना भी न भूल जाऊँ!

आओ प्रिय! एक बार मैं तुम्हारे अंचल को स्वच्छ कर दूँ। तुम्हारे मलीन दुकूल को मा के स्नेहाश्रुओं से धो दूँ! एक बार मैं

उस स्वच्छता की ज्योति में अपनी मा के पद-पद्मों को देख लूँ ! यह कहते कहते सुफला कभी रोने भी लगती थी। और फिर कभी सोचती थी कि मेरा बन्धु इस दीपक के तले क्यों छिपा रहता है ! क्या अँधेरे के पास ही आलोक भी रहता है ? क्या मुझमें और मेरी मा में थोड़ी सी ही दूरी है ? अल्प ही अन्तर है ? हाय ! यह प्रदीप अपने प्रकाश का तो गर्व नहीं करता? और इसीलिए क्या यह तम को पाँवो तले कुचलता है ! ऐसा सोचते ही वह कभी प्रकाश का तिरस्कार करने लगती थी। उसे धधकारती थी कि अरे क्षुद्र दीप ! तुझे अपने इस क्षीण प्रकाश का गर्व है ? तू अपना हृदय उज्ज्वल समझ कर तिमिर को अपने पैरों कुचलता है ? किन्तु दुष्ट ! तेरा हृदय कृष्णता से भी कृष्ण है ! तू प्रेम का मिस ले दीन प्रेमी पतंगों को स्वाहा कर अपनी तामसी तृषा तृप्त करता है ? निर्मल पय पीकर कज्जल-कूट प्रसूत करता है ? मूर्ख ! इससे अधिक कालापन तुझमें क्या हो सकता है ? इससे घोर कालिमा और क्या हो सकती है ? तू चाहता है कि अन्धकार प्रकाश का स्वच्छ जामा न पहने ! दुर्बल सशक्त न हो ! नीच न उठने पावे ! अदूरदर्शी ! तू भारत के इस घोर पतन को देख कर भी शिक्षा ग्रहण न कर सकी ! भारत ने भी अपनी अछूत जातियों से उनसे उच्च-जातियों की सेवा कराकर उन्हें कुचलना चाहा था ! उनकी शिक्षा तथा उनकी उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया था ! इसी से भारत की उच्च जातिएँ भी गिर पड़ीं। जब नींव ही वसन्त की मलय वायु में खड़खड़ाती हुई हिलती हो तो

प्रासाद की दीवारें दुर्विपाक की आँधी में कहाँ टिक सकती हैं ? सुफला दीप की शिखा को चंचल देख कर समझती थी कि वह मेरी धत्कार से काँप रही है। जब कभी कभी प्रदीप-शिखा कुछ क्षीण हो जाती तो वह समझती थी कि दीपक अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप कर रहा है। पर जब सुफला की दृष्टि प्रदीप के तले पर पड़ती थी और जब वह तम को वहीं पाती तो वह दीपक को फिर धमकाती थी कि---अधम ! तेरे पैर भी तेरे ही अंग हैं। उन्हें भी उज्ज्वल कर, उन्हें अछूत समझ कर अटल अन्धकार में न डाल दे ! किन्तु सुफला दीप की शिखा को फिर उज्ज्वल होती देख कर समझती थी कि दीपक मुझे उत्तर दे रहा है। मुझसे निर्भय होकर कह रहा है कि मैं दोपी नहीं हूँ। मैं निपराध हूँ। मुझे वृथा तुच्छ न समझो। मैं अन्धकार का अतीत से कृतज्ञ हूँ। अन्धकार ही में मुझे सदा आदर मिलता है। इसी की गोद में मुझे सम्मान प्राप्त होता है। दिन में मुझे आलोकित करने तक का कोई कष्ट नहीं करता है। मैं जानता हूँ कि अन्धकार रात्रि-देवी का श्यामल शरीर है। और रात्रि शीत-रश्मि की सहचरी है। इसीलिए मैं तम को शीतलता का इच्छुक जान कर अपने शीतल तले में सादर स्थान देता हूँ। मैं कज्जल कूट अवश्य प्रसूत करता हूँ। किन्तु क्या वह यथार्थ में काला है ? नहीं, वह कालिमा नहीं है। उसमें एक दिव्य द्युति अंतर्हित है। वह जब आँखों में लगाया जाता है तो उन्हें नवीन ज्योति देता है। उसमें प्रकाश भरा है। संसार में प्रकाशवान सदा अदृश्य ही रहते हैं। गुण

वाले अपने को छिपाना चाहते हैं। अपने गुणों को अव्यक्त रखते हैं। सूर्य की रश्मि स्वयं तो अदृश्य रहती है किन्तु क्षुद्र रज-कणोंको प्रकाशित कर उन्हें जीवन प्रदान करती है। मैं मूर्ख नहीं हूँ। मैं एक मंजुल मेल हूँ! अत्यन्त पवित्र मेल हूँ। मैं तुम्हें बतलाता हूँ——घोर अन्धकार में भी शिक्षा देता हूँ कि—— ऐक्य में कैसा सुखमय आलोक है! एक क्षुद्र तूल-वातिका का पय के साथ ऐक्य होने से कैसी सुन्दर प्रभा प्रकट होती है। मैं तुम्हें अपने क्षीण ज्योति में भी अनुपम शिक्षा का अति उज्ज्वल आलोक दिखलाता हूँ!

सुफला मन ही मन "——तले अँधेरो दीप" के लिए तर्क वितर्क किया करती थी। दासी प्रदीप को दीप-दान में रख कर चली गई। सुफला "जीवन-प्रभात" पढ़ने लगी।

तृतीय पुष्प

तरलंग-तट

प्रातःकाल का मनोहर समय है। सारा आराम स्वर्ण-वस्त्र विभूषित दिखलाईं देता है। वसन्त-ऋतु का अनुपम विभव, आराम की मन्द मन्द सुरभि-सिंचित अनिल, अलि-दल की मृदुल गुंजन, विहंगों की कल-कंठ ध्वनि—सभी हृदय हर रहे हैं।

भविष्य तरलंग के तट में एक स्वच्छ-शिला के ऊपर अकेले बैठे हैं। आज नौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं जब हम एक बार पहिले भी इस बन में आए थे। अब भविष्य भी युवा हो चुके हैं। अब आशा उनके साथ खेलने को नहीं आया करती। अब भविष्य उसे पुष्पालंकारों से विकसित कर बनदेवी सी नहीं बनाते। अब वह क्रीड़ा-कौतूहलमयी तथा मनोहर बाल्यावस्था बीत चुकी है। अब वह निष्काम-स्नेह, वे अकपट-विचार, वह निर्भीक हृदय, वह सरल चितवन, वह मादक बोली आदि सभी बाल्यावस्था के अनुगामी हो चले गए हैं। अब आशा का स्नेह भविष्य के हृदय में अधिक प्रबल हो प्रणय में परिणत हो गया है। क्यों न होता ? बाल्यावस्था यौवन की मादक सुरा चढ़ा चुकी थी, सौन्दर्योपासना का नशा कब न वृद्धि पाता ? शैशव युवावस्था का चटकीला जामा पहन चुका था, स्नेह का रंग अधिक चटकीला क्यों नहीं

दिखलाई देता ? जीवन का स्रोत यौवन के जीवन से परिपूर्ण हो चुका था प्रणय के दृढ़ बाँध की कब आवश्यकता न थी ? आशा के स्नेह ने भी भविष्य के हृदय में प्रणय का पुरट-पट पहिन लिया था। प्रेम का पवित्र-पट परिधान कर लिया था।

आज भविष्य ने प्रायः एक मास से आशा को नहीं देखा था। उसका मृदुल स्वर नहीं सुना था। अब आशा भविष्य से बातें करने में सकुचाती थी। भविष्य के दृग खंजनों ने जब से आशा के रुचिर-रूप-सरोवर में यौवन का प्रिय पद्म प्रफुल्लित देखा तब से वे उसी कमल में बैठ गए थे। भविष्य इस सगुन के सु फल की आशा में ही दिवस व्यतीत कर रहे थे। उनके दृग-मीन आशा के लीला-सलिल के लिए सदा तड़फते थे। श्रवण-चातक आशा के वचन-स्वाति के लिए उत्कण्ठित रहते थे। उनकी आकांक्षा-चकोरी आशा के स्नेह सुधानिधि को निर्निमेष ताकती रहती थी। उनकी व्याकुलता उसके दर्शनों के लिए दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। उन्हें आशा ही का ध्यान सुख देता था। वे आज आराम के विविध सुन्दर-प्रसूनों से आशा के रम्य-रूप की तुलना कर चुके थे; किन्तु उन्हें उस रूप का उपमान कहीं नहीं मिला था। उनको वह सजीवता कहीं नहीं दिखलाई दी थी। भविष्य अन्त में थक कर तरलंग के तट पर बैठ गए थे। तरलंग का जल ऊषा के आलोक में अरुण दिखलाई देता था। उसके हृदय में पवन के वेग से लोल लोल तरंगें उठ रही थीं। भविष्य तरलंग का यह सजीव सौन्दर्य देख मुग्ध हो गए। वह कहने लगे—संसार में

सौन्दर्य किसे मुग्ध नहीं करता ? तरलंग ! तुम भी आज प्राची से मुसकाती हुई ऊषा की अनुराग भरी अर्ध-खुली आँखों के अरुण राग में अपने को रंजित किए हो। आज तुम भी अपने निर्मल हृदय में अर्ध-विकसित कमल-दल की दिव्य अंजलि सज्जित कर उस चरम सौन्दर्य का सम्मान कर रहे हो। आज तुम्हारा मानस सा विमल मानस भी उस रम्य रूप से मिलने के लिए चंचल हो रहा है। तुम्हारा सरल हृदय वायु के अदृश्य करों को ग्रहण कर उस अपूर्व सौन्दर्य की ओर बढ़ रहा है। तुम मानो फेन-रूपी मुक्ता हार लिए अपने तरंग-रूपी अगणित पतले पतले करों को उस परम सुषमा की ओर बढ़ा रहे हो। तुम मानो दन्तद्युति-युक्त अगणित सस्मित मुखों से 'कल कल' रव कर उस रूप-राशि के गुण गा रहे हो। उसके अलभ्य छवि में मुग्ध हो तरंगोत्थित कल्लोल कर 'टुल टुल कुल कुल' शब्दों में कविता रच उसकी सुषमा को सजीव कर रहे हो।

तरलंग ! मैंने तुम्हारे विशद हृदय का ऐसा रुचिर चित्र पहिले कभी नहीं देखा। तुम्हारे हृदय में—इस शीतल मानस में भी—यह वाड़वाग्नि कब से अगोचर थी—यह अनुराग की—विशुद्ध-अनुराग की—अरुण-ज्वाला कब से तिरोहित थी यह मैं नहीं जानता था। आज मैंने इसे स्वीय दृगों से ही देख लिया है।

कौन जाने, इसी प्रकार कितने हृदय अपने में इसी विशुद्ध परीक्षक अग्नि को छिपाए हुए हैं ? उन्हीं में से—

"भविष्य"

भविष्य ने तुरन्त मुँह फेर कर देखा तो निमेष।

भविष्य—क्यों दद्दा, आज इतने प्रातः यहाँ कैसे आ गए? क्या भाबी से रात में कुछ तकरार हुआ जो उठते ही भाग आए?

निमेष तथा भविष्य बाल-सहचर थे। निमेष अवस्था में भविष्य से बहुत बड़े थे। इसीलिए भविष्य उन्हें दद्दा कह कर पुकारते थे। निमेष का भी भविष्य से अच्छा स्नेह था। वे सदा भविष्य के ही ध्यान में रहते थे। उन्होंने भविष्य के मुख से ऐसे परिहास-प्लावित वचन सुन कर हँसते हुए कहा—हाँ भवि, भाबी को छोड़ कर भाग आया था किन्तु भविष्य ने फिर पकड़ लिया।

भविष्य—तुम्हें ही क्या, दद्दा, भविष्य सभी को पकड़ लेता है। प्रायः सभी भावी में लीन होकर कष्ट पाते हैं। तुम्हें भी भावी ने बुरा पकड़ा।

निमेष—किन्तु मुझे तो इस समय वर्तमान ही ने पकड़ लिया है।

भविष्य तथा निमेष में इसी प्रकार बातें हो रही थीं कि इतने में सुफला तथा आशा भविष्य के पास आ पहुँचे। आशा आज अनुरोध कर सुफला को देवी दर्शन के लिए ले आई थी। वे इस समय दर्शन कर घर को लौट रहे थे। किन्तु सुफला आशा को बाध्य कर भविष्य के पास ले आई थी। यथार्थ में आशा आज देवी-दर्शन का मिस कर भविष्य को ही देखने के लिए यहाँ आई थी। वह भविष्य की आदतों से परिचित थी। उसे विश्वास था कि

भविष्य निश्चय तरलंग के तट में बैठे हुए मिलेंगे। आशा के हृदय में प्रतिभा के अन्तिम वाक्य ने कल पूरा प्रभाव डाला था। इसलिए अति संकोच होने पर भी आज उसने भविष्य से मिलना निश्चय कर लिया था।

भविष्य को इस प्रातः अचानक चन्द्रोदय सा प्रतीत हुआ। उसके नयन-चकोर संकोच का जाल तोड़ कर आशा के चन्द्रानन पर अड़ ही गए।

"लाज लगाम न मानहीं, नैना मो वस नाहिं,
ये मुँहजोर तुरंग लों ऐंचत हूँ चलि जाहिं।"

भविष्य का दाहिना दृग खंजन आशा के मुख-कमल में वास करने को मानो फड़फड़ाने लगा। आज उसे कितने ही महिनों से अपना परिचित पुष्प मिला। हृदय-चातक को स्वाति-सलिल मिला। भविष्य को आज अपने दृग-खंजन का आशा के यौवन-पद्म में बैठने के सगुन का फल मिला। उसकी आशा आज सुफला हुई।

भविष्य ने एक बार बड़े कष्ट से आशा के मुख से दृष्टि हटा कर तरलंग की ओर डाली। उसे प्रतीत हुआ मानो तरलंग का हृदय भी चन्द्रानन को देख समधिक चपल हो आया है। उसने एक बार तरलंग की तरल व पतली पतली तरंगों से आशा के सुखमार व कोमल अंगों को मिलाया, किन्तु भविष्य को वह सौन्दर्य ढूँढ़ने पर भी उनमें न मिला। उसे तरलंग के निर्जीव अंग आशा के सुन्दर अंगों के सामने बिलकुल ही कान्तिहीन तथा नीरस लगे।

भविष्य का मुख आन्तरिक भावोच्छ्वास से सहसा खिल उठा। मानो कि वह उसके मनोगत भाव आशा को जतलाने के लिए ही प्रफुल्लित हुआ हो।

इन सब बातों को लिखने में इतना समय लगा, किन्तु यह काम अत्यन्त अल्पकाल का था।

आशा की भी यही दशा हुई। किन्तु वह लज्जाधिक्य से भविष्य के मुख-कमल पर अपने लोचन-भृंग न अड़ा सकी।

"छुटी न लाज न लालचौं, प्यो लखि नेह गिरेह,
सटपटात लोचन खरे, भरे सँकोच सनेह।"

आशा पृथ्वी की ओर दृष्टि डाल कर अपने कोमल पद-नखों से मिट्टी खुरचने लगी। वह मानो मन ही मन कह रही थी—

"इन दुखिया अँखियान को, सुख ही सिरज्यो नाहिं
देखैं बने न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं।"

आशा की मुख की अरुणिमा इस समय सचमुच भविष्य की अशिष्ट-दृष्टि का तिरस्कार कर रही थी। किन्तु सुफला यह सब न देख सकी। उसकी आँखें न जाने विधि ने किस द्रव्य से बनाई थीं कि वे प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य ही सौन्दर्य अनुभव करती थीं। उसके लिए सारा संसार ही सौन्दर्यमय था। वह जब से यहाँ आई थी तब से तरलंग ही की ओर टकटकी लगाकर खड़ी थी। उसके हृदय को तरलंग ने मानो अपने किसी अदृश्य गुण से बांध

लिया था। वह अधिक समय तक चुप न रह सकी और भविष्य से बोली—

देखो दद्दा, तरलंग की तरल-तरंग-क्रीड़ा आज कितनी अपूर्व तथा सुन्दर प्रतीत हो रही है। इसके हृदय में जो लोल-तरंगें उठ उठ कर विलीन हो रही हैं वे मेरे हृदय में बड़ा आन्दोलन मचा रही हैं। एक प्रकार से तो मैं आनन्दित हो रही हूँ कि ये तरंगें आज तरलंग ही के हृदय में समुत्थित होकर विलीन नहीं हो जा रही हैं प्रत्युत मेरे निर्निमेष नयनों में विश्राम ले रही हैं। मुझे प्रतीत हो रहा है मानो ये मेरी आँखों को भी अपने ही साथ डुबा ले जा रही हैं। इनका सौन्दर्य व्यर्थ नष्ट न होकर मेरे हृदय को भी अपने अदृश्य सूत्र में गूँथ ले रहा है।

किन्तु मुझे यह सोचकर बड़ा कष्ट हो रहा है कि प्रत्येक तरंग इतने अल्पकाल में ही दुर्बल होकर क्यों सुसुप्त हो जा रही हैं। हरएक तरंग मानो वायु से कह रही है—"गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ।" किन्तु पवन उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर रहा है। और वह तरंग निराश होकर निज सुसुप्तिमय-भविष्य की चिर-विश्राम-दायिनी क्रोड़ में अनन्त काल के लिए सो जा रही है। दूसरी तरंग उसे देख कर भी शान्त नहीं हो रही है। वह भी रजत-पट-परिधानित भविष्य के हृदय-मरु में मायाविनी आशा की मृग-मरीचिका के प्रलोभन में पड़ एक बार कुटिल नियति का कृश सूत्र ग्रहण कर उठना चाहती है और वायु से मृदु स्वरों में कहना चाहती है कि—

"गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ!"

किन्तु उसके उठते ही कुटिल नियति का कृश सूत्र छिन्न हो जा रहा है। और वह भग्न-हृदया भी अपनी पूर्व-आशाहता सखी की अनुगामिनी बन उसी निर्दिष्ट स्थान में—अन्धकारमय भविष्य की अदृश्य गोद में—तप्त-निःश्वास से फेन उठाती हुई सदा के लिए सो जा रही है।

प्रिय दद्दा! मुझे कभी ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो यह प्रत्येक तरंग एक एक आकांक्षा है, जो कि तरलंग के हृदय में उठते ही नष्ट हो जा रही है। अहा! इस तरलंग का हृदय सचमुच विशद है। इसका मानस गीता की उपदेश-सुधा से सरसित है। यह भली भाँति जानता है कि—

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते,
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।"

और इसीलिए यह इच्छाओं को उठते ही नष्ट कर दे रहा है।

ऐसा कहते कहते सुफला के लोचनों से एक दो अश्रु-बिन्दु टपक कर तरलंग के निर्मल जल में लुप्त हो गए। उसके हृदय में तरलंग के असामान्य चरित्र से अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा।

सुफला ने जब देखा कि मैंने जिन अश्रुबिन्दुओं के साथ अपने मानस की दुर्बलता तिरस्कार के साथ बहा दी थी, उन्हीं अश्रु-बिन्दुओं को तरलंग के उदार हृदय ने अपने में मिला लिया है और जब उसे अन्वेषण करने पर भी नहीं मिले कि मेरे अश्रु-

बिन्दु तरलंग के द्रवित हृदय में किस स्थान पर गिरे थे, तब उसकी दशा और भी विचित्र हो गई। वह सहसा कह उठी —

तरलंग! तुम्हारा हृदय धन्य है। तुम धन्य हो! प्रत्येक वायु के अदृश्य स्पर्श का भी तुम्हारा हृदय इतनी उत्सुकता से स्वागत कर रहा है! तुम सहृदयता के सरोवर हो! तुम विशद हो। तुम्हारे निर्मल हृदय में अपने बड़े होने के अभिमान का कहीं पर एक काला छींटा भी नहीं है। तुमने मेरे तिरस्कार के साथ फेंके अश्रुबिन्दुओं को भी इतना सम्मान दिया। तुम इतने बड़े हो जाने पर भी नहीं भूले कि मेरा हृदय इन्हीं क्षुद्र विन्दुओं से बना है।

निमेप अभी तक निर्निमेष नयनों से सुफला के मुख को देख रहे थे। वह सुफला के इन वाक्यों को सुन कर अपने को न सँभाल सके। और सहसा "वाह! वाह!" कह उठे। किन्तु वे साथ ही अपनी इस अशिष्टता पर अत्यन्त लज्जित हुए। सरला सुफला ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उसकी दृष्टि इस समय तक भ्रमण करती हुई तरलंग के दूसरे भाग में जा पहुँची। उसने देखा कि तरलंग के हृदय से एक चंचल-पीत प्रभा निकल रही है। सुफला को प्रतीत हुआ मानो स्वयं कमलालया कमला कमल दल से उतर कर तरलंग के निर्मल जल में स्नान कर रही है, जिसके शरीर की कांचन-कान्ति जल के गर्भ में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ती है। किन्तु वह इतने ही में समझ गई कि यह देवी जी के द्वार के दीप-

शिखा का प्रतिबिम्ब है। सुफला ही इस दीपक को वहाँ जला आई थी। उसे सहसा याद आ गया —

"परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं—
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्त।"

सुफला कहने लगी—तरलंग! तू भी ऐसे "सन्तः कियन्तः" में से एक है, तेरे गुणग्राही हृदय में उस क्षुद्र शिखा का बिम्ब इतना बृहत् दिखलाई दे रहा है मानो "बालार्क कोटि प्रभा" स्नान कर रही हो।

निमेष की रही सही सुधि भी इन बातों को सुन कर जाती रही। उनका हृदय सुफला के "छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यो यौवन अंग" की "दीपति देह दुहून मिलि" में फिसल गया। बिचारी विजया का प्रेम उनके मन से सुफला के "दिपति ताफता-रंग" की शिखा में कर्पूर के सदृश उड़ गया, बिचारी का चिर-सिंचित स्नेह का बाँध उस रूप-राशि की प्रबल-धारा के सामने न ठहर सका! टूट ही गया! निमेष सुफला के रंग में निमेष निमेष में घुलने लगे, उन्हें सुफला तरलंग से भी एक सुन्दर सरी प्रतीत होने लगी —

"यौवन महासर में रूप को सलिल भरो,
तरल तरंग हाव भावन को भाव है।"

निमेष के "अंग अंग सब झौंर में भयो भौंर की नाव।" उनके

नयन निर्निमेष हो गए। और स्वतन्त्र हो सुफला के मुखकमल पर अबोध "अलि-छौनों" के सदृश बँध गए। उड़ न सके। निमेष का कोई बल न चला।

इतने ही में आशा ने सुफला की अँगुली दबाई। सुफला इस संकेत से समझ गई कि आशा की इच्छा घर जाने की है। वह आशा से कहने लगी—

क्यों आशु, तू आज अलग खड़ी होकर अपने पद-नखों को क्या गिन रही है? भविष्य दद्दा से आजकल क्यों नहीं बोलती?

आशा मन ही मन न जाने सुफला को कितनी गालियाँ देने लगी। उसके आँखों की सुफला तथा लज्जा के बीच में—"इचें खिचें इत उत फिरें" यह दशा हो रही थी। किन्तु उसे अपने को सुफला के व्यंग-बाणों से बचाने के लिए लाज की बेड़ी तोड़नी ही पड़ी। वह अपने निर्गुण भ्रू-धनुषों को खींच कर सुफला की ओर देखने लगी। और अत्यन्त दबे स्वर में बोली—

मैं कहाँ नहीं बोलती?

रँगीले नारंगी सदृश रसीले अधरों के भीतर मुसकान की मधुरिमा के बीच में उसके सित-दन्त बीजों से छिपे दिखलाई दिए। तरलंग का जल वायु के एक तीव्र झोंके के साथ उछल पड़ा। मानो प्रकृति ने ईर्ष्या से भविष्य के हृदय के आनन्द की अनन्वयता भंग करने ही के लिए यह नवीन उपमान प्रस्तुत किया! तरलंग सित-फेन के कणों से भर गया। भविष्य को प्रतीत हुआ

कि तरलंग के हृदय में मानो चपला स्नान कर रही है। उन्हें जान पड़ा मानो तरलंग के ऊपा-रंजित अरुण हृदय में श्वेत कमलावलि हँस रही है। भविष्य को ज्ञात हुआ कि मानो तरलंग के भीतर श्वेत वस्त्राविभूषिता सरस्वती अपनी मधुर वीणा बजा रही है। उन्होंने उस तरंगोत्थित श्वेत-फेन कणावलि को आशा की दन्तावलि का प्रतिबिम्ब समझा! वे सोचने लगे कि तरलंग का हृदय आशा की अधर अरुणिमा के प्रतिबिम्बित होने ही से अरुण हो रहा है।

आशा सुफला से बार बार गृह को लौटने के लिए अनुरोध करने लगी। आशा की लता-सी कोमल देह लाज के बोझ से दबती जा रही थी। सुफला उसका अनुरोध न टाल सकी। दोनों सखिएँ गृह को चली गईं।

निमेष भी उनके चले जाने पर वहाँ नहीं ठहरे। और भविष्य को किसी कार्य का मिस बतला कर चलते बने। भविष्य वहाँ अकेले ही रह गए। निमेष आज "तरलंग-सरोवर" के तट में अपना "मानस" खो गए।

आशा ने जाते समय भविष्य की ओर एक दृष्टि डाली थी। भविष्य के हृदय में अभी तक उसी का घाव लगा था। वे उस मधुर वेदना से फड़फड़ाते हुए मन ही मन कहते थे —

आशे! तुम्हारा स्वरूप सचमुच अत्यन्त सुन्दर तथा सुखद है। तुम मेरे जीवन रूपी मरु में शीतल-जल-परिप्लुता अनन्त वाहिनी तरंगिणी हो! तुम मेरे कुहू रूपी हृदय में सदा रहने वाली एक

अचंचल-दीप शिखा हो। तुम्हारा ध्यान सोम-रस से भी मादक तथा सोम-रस से भी शक्तिमय है। तुम्हारे ध्यान में वर्ष पल के सदृश व्यतीत होते हैं। तुम्हारा ध्यान मेरे मृत शरीर को पुनः जीवन प्रदान करता है। तुम्हारी आकृति सदा दृष्टि के सन्मुख रहने पर भी नवीन तथा मधुर प्रतीत होती है। उसकी मनोरमता से मन नहीं भरता। तुम्हारी आकृति अयस्कान्त-मणि से भी शक्तिमती है। अयस्कान्त-मणि सार ही को खींचती है किन्तु यह असार विचार तथा निस्सार स्वप्नों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। धन्य आशे! तुम्हारी अनन्त महिमा है!

तुम्हारा आभास अनन्त तारक-राशि के झिलमिल में, तुम्हारी लीला जल की तुतली तरंगों में, तुम्हारा बोलना अलि-दल के मृदु गुंजन में, तुम्हारी छवि "शरदेन्दु" में, तुम्हारी मनो-रमता वसन्त के बाल-विकास में, तथा तुम्हारा गाना कोकिल के कल कंठ में क्रीड़ा सा करता है! सुमुखि! तुम त्रिभुवन-विजया हो। मेरी अमित कल्पनाओं की कल्पलता हो!

भविष्य इसी प्रकार सोच रहे थे कि इतने में आराम का मृग ग्रीवा मटकाता हुआ भविष्य के सामने आकर खड़ा हो गया। मानो वह भविष्य से कहने आया हो कि—

भविष्य, अवश्य, आशा मायामयी मृग-मरीचिका होने पर भी अत्यन्त पवित्र है। मृग, मृगनयनी तथा मृग-मरीचिका देखने में अत्यन्त सुन्दर दिखलाई देती हैं तथा आशा-जनक प्रतीत होती हैं

किन्तु इनसे सुख की प्राप्ति कठिन है! इनके ऊपर अधिकार जमाना असम्भव है!

मृग चला गया। भविष्य भी अपने घर को चले गए।

चतुर्थ पुष्प

विरहिणी

आज विजया सर्व प्रकार पराजिता है। हाय! मैं विरह-व्याकुला होकर इतनी रोती हूँ, किन्तु सब अरण्य-रोदन के सदृश है। मेरी कोई नहीं सुनता! मेरी वियोग की रात!—हाय! मेरी वियोग की रात बड़ी विलक्षण है। इसका प्रबन्ध स्वयं जगद्धात्री·प्रकृति के यहाँ से भी नहीं हुआ है। यह कितनी बड़ी है, इस यामिनी में कितने याम हैं,—इसका अनुमान कौन कर सकता है?

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सखि! दिवस हमारे हाय! कैसे कटेंगे?"

राधे! तुम्हारे दिवस तो अब कट ही गए हैं, तुम्हारे बार तो अब किसी न किसी प्रकार बीत ही चुके हैं, किन्तु तुम यह कहना मेरे लिए छोड़ गई हो! अब इसे मैं रटती हूँ—

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सजनि! रजनि मेरी हाय! कैसे कटेगी?"

ओह! इस जड़ प्रकृति की कठोरता का क्या ठिकाना है?

कितनी ही बार में इसकी नीरवता को भंग कर उच्च स्वर में पुकार चुकी हूँ---"विरह रजनि मेरी हाय ! कैसे कटेगी।" किन्तु यह शून्य-हृदया कुछ भी उत्तर नहीं देती। इसके अदृश्य उदर में मेरा सब रुदन स्वर विलीन हो जा रहा है। मेरी विरह ज्वाल में यह दोषा पतंगिनी के सदृश नहीं जल जाती, मेरा अविरल अश्रुपात इस काल भुजंगिनी का विष बहाने में सक्षम नहीं होता। मेरा दीर्घ-रुदन स्वर भीषण वज्र-नाद की तरह इस करालिनी की कठोरता को कँपा नहीं सकता। मेरी प्रत्येक वांछा, प्रत्येक उत्कण्ठा इस अहिनी के मणिस्वरूप चन्द्र की उत्तप्त किरणों को छूते ही एक विषम वेदना बन जाती है। आज मैं सर्व-प्रकार असहाया हूँ।

पार्श्ववर्ती निर्झर का प्रपात !---मेरे हृदय की आग ! किन्तु वह इसे क्यों बुझायेगा ? वह आहुति है। हाय ! ठीक कहा है---

"दिन देख नहीं सकते सविशेष---
किसी जन का सुखभोग कभी।।"

वेदने ! क्या तू ब्रह्मा से अक्षय वर पा चुकी है ? यदि तू इस निर्झर-प्रपात से प्रसूत विद्युत के सदृश मेरी दृष्टि-सन्मुख प्रकट हो जाती तो मेरी अश्रु-जल-धार तुझे बहा देने में अवश्य कृतकार्य हो जाती ! विद्युत एक कठोर दिल की आग है, तू मेरे इस दुर्बल दिल की। विद्युत किसी दो पदार्थों के मेल तथा संघर्षण से उत्पन्न होती है, और मेल की वह्नि किसी प्रकार सही भी जा सकती है,

किन्तु तू दुष्टा तो विश्लेष तथा वियोग से पैदा होती है। तू किस प्रकार सहन की जा सकती है? विद्युत की विभा केवल चक्षुओं को ही चकाचौंध करती है किन्तु तू तो सारे शरीर को दुखदाई है! तेरी ज्वाला तो सारी देह भस्म कर डालती है।

हाय! इस पंचशर के पंचशरों की पंचाग्नि सहते सहते इस पंचभूत शरीर को आज पाँच मास हो गए हैं। कितनी प्रबल पंचाग्नि है। हाय! क्या इस कठोर तपस्या का परिणाम केवल जल-जल कर भस्म होना होगा? जब से प्राणनाथ विमुख हुए तब से मेरे लिए सारा संसार ही विमुख हो गया है।

"तड़ित तरर, त्यों इम्मरद अरर,
घनघोर की घरर, झनकार झिंगुरन की।
पौन की लहक त्यों कदम्ब की महक लागी,
दाहक दहन लै लै सीमा उरगन की।"

हाय! आज मेरे ऊपर इस वर्षा ऋतु को भी दया नहीं आ रही है। "धूम से धुवारे कहुँ काजर से कारे ये निपट विकरारे घन" मेरे प्राणों के ग्राहक बन बैठे हैं। "गरज गरज अह! तरज तरज" मेरे दिल को सता रहे हैं। "दामिनी दमंकनतें झिल्ली की झमंकनतें दादुर असंकनतें" कलेजा काँप उठता है। "मोरन को सोर सुनि पिक की पुकार सुनि चातक चकार सुनि" हृदय फट जाता है!

हा जीवनेश! इस दासी से क्या अपराध हुआ जो आप इसकी सुधि नहीं लेते हैं? आपने मुझ दीना की कुटी में आना भी छोड़

दिया है। इस सेविका को न भूलो नाथ! इस पद-परिचारिका का अपराध क्षमा करो।

विजया को इसी प्रकार प्रलाप करते करते रात्रि बीत गई। उसे आज चार मास से नींद नहीं आती थी। जब से निमेष अपने हृदय को सुफला के हाथों का खिलौना बना चुके थे, जब से वे अपना 'मानस' 'सरोवर' के तट में खो आए थे, तब से वे विजया के कमरे में एक बार झाँकने भी नहीं गए थे। बिचारी विजया इस बात का कुछ भी कारण नहीं जानती थी। वह इसमें अपना ही अपराध समझती थी। वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती थी। उसके देह की सब कान्ति उड़ गई थी। हाथ-पाँव सूख कर काँटे से हो गए थे। विजया कई बार अपने स्वामी से क्षमा माँग चुकी थी किन्तु निमेष उसे धत्कार बताते थे। अपने पास तक न फटकने देते थे।

हाय! आसक्ति भी कैसी बुरी वस्तु है। इसके पाश में फंस-कर किसका नाश नहीं हुआ? इसके राज्य में नीति, न्याय, शान्ति तथा सुख किसे मिला? किसने अपना सर्वस्व इस राक्षसी के उदर में नहीं डाला? कुन्दनन्दनी राह राह भटकी, द्वार द्वार की भिखा-रिणी बनी। विलास कुमारी ने अपना सब विलास त्याग कर भस्म रमाया। मालती ने अपना सर्वस्व खोया। यहाँ तक कि अपने प्राण तक इस दुष्ट दैत्यिनी को समर्पण कर दिए। चंचलकुमारी ने राजसिंह तथा औरंगजेब बादशाह के बीच उतना बड़ा संग्राम खड़ा किया। गुलाब अविवाहिता रही। विहारी ने इस मायाविनी

के उद्यान में विहार कर तथा कुंज के कंटक से विद्ध हो करुणा के लिए आजन्म अपना विवाह नहीं किया ! कश्यप के आश्रम में पवित्र-जल-सिक्त-कुन्तला शकुन्तला ने इस पिशाचिनी के हाथ पड़ उतना कष्ट सहा। कहाँ तक कही जाय, इस दुरन्त दानवी की महिमा अपार है ! ईश्वर इसके हाथों किसी का प्राण धन न सौंपें ! यह सब अनर्थों की मूल है।

विजया अपने शोक के वेग में यह भी नहीं जानती थी कि रात बीत गई है। वह पलंग में सोई सोई करवटें लेती रही। किन्तु कुटिल नियति को यह भी स्वीकार न हुआ। विजया की चचेरी सास विजया के उठने में विलम्ब देख कर द्वार से बाघिनी की तरह गरजी—क्यों री मुँहजली, क्या अब सोई ही रहेगी ? तेरे करम में सोना ही बदा है, चोट्टी को दस दस बजे तक सोने में लाज भी नहीं आती। मैं क्या अब चाय बना सकती हूँ ? उठ, निमी को चाय बना के दे। उसके घूमने का समय आ गया है।

विजया चटपट पलँग से उठ कर खड़ी हो गई। वह लज्जा के मारे मर गई। उसे अपने ऊपर अत्यन्त घृणा हुई। वह शीघ्रता से स्नानादि कर चाय बना के निमेष के कमरे में गई। उसने आज अपने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया था कि एक बार अपने स्वामी से और क्षमा के लिए प्रार्थना करूँगी। उसने चाय का प्याला मेज़ पर रख दिया, और वह साहस के साथ एक कोने में खड़ी हो गई। उसने चाय पीने के पूर्व कुछ कहना उचित न समझा। जब निमेष ने चाय का प्याला मेज़ पर रख दिया, विजया तब बोलने

का अवसर ढूढ़ने लगी। पर उसका मुख लाज तथा भय के मारे नहीं खुला। उसने कई बार साहस किया कि मुँह खोलूँ किन्तु उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल सका। होंट पत्तों की तरह खड़खड़ाने लगे।

अन्त में विजया सर्व भाँति पराजिता हो निमेष के चरणों में पड़ कर बड़े कष्ट से रोते रोते कहने लगी—

नाथ, इस दासी को क्षमा करो। इसे न घिनाओ। यह आपके सिवाय और किसी की होकर नहीं रह सकती। इसका दूसरा इस संसार में और कोई नहीं है। यह अन्य को नहीं जानती। नाथ! इसे न भुलाओ। आज चार मास हो गए आपने इस दासी के कमरे को अपने पादारविन्दों से पवित्र नहीं किया। एक बार प्रसन्न मुख से इससे बोले भी नहीं। इससे दो बातें भी नहीं कीं। प्राण! इस दासी से ऐसा कौन अपराध हुआ जिसने आपको इतना कष्ट दिया? यह दासी अभी तक उस अपराध से अपरिचिता क्यों रक्खी गई? क्षमा करो नाथ! इसे क्षमा करो। यह भिखा-रिणी आपसे भिक्षा माँगती है। इसे विमुख न करो।

विजया के इस रुदन को सुन कर प्रस्थर भी रो उठते। कुलिश भी शीतल हो जाता। मणि भी द्रवित हो जाती! किन्तु निमेष का हृदय नहीं पिघला। वे मानो हृदयहीन थे। उन्हें विजया की कातरता से कुछ भी असर नहीं हुआ। उस निर्दोषा पर लेश भी दया नहीं आई। उन्होंने झटका देकर अपने पाँव छुड़ा लिए और झल्लाकर बोले—जाओ, मुझे व्यर्थ तंग न

करो। मेरा स्वास्थ्य आजकल ठीक नहीं है। अपना काम करो।

विजया छिन्न मूल लतिका की तरह फिर उनके पाँवों में पड़कर रोने लगी। उसने आज निमेष के चरण अपने अश्रुओं से 'फिर' धो डाले। किन्तु हाय! उसे प्रेम-पुरस्कार कुछ भी न मिला। बिजया गिड़गिड़ा कर कहने लगी——नाथ, आपकी आज्ञा उल्लंघन करने का साहस इस दासी को नहीं है। किन्तु जीवनेश! आपकी अस्वस्थता में आपकी सेवा से अधिक आवश्यक कार्य इस दासी का और क्या हो सकता है? इस सेविका से अपनी बीमारी का हाल क्यों नहीं कहते? इसका जन्म ही किस लिए है? यह पद परि-चारिका आपकी सेवा करेगी। नाथ! स्त्रियों के लिए पति-सेवा से अधिक बढ़ कर और सुख ही क्या है? उनका यही धर्म है। इससे बढ़ कर उनके लिए और कोई काम नहीं हो सकता।

निमेष——मैं कह चुका हूँ जाओ, अपना काम करो। तुम मुझे धर्म का उपदेश देने नहीं आई हो। मेरी आज्ञा पालन करना ही तुम्हारा धर्म है। तुम मेरी कुछ सेवा नहीं कर सकती।

बिजया——किन्तु नाथ! स्वामी की अस्वस्थता में उनकी सेवा न करना क्या पाप नहीं है? आप कुछ बतलाएँ भी तो, ऐसी आपको कौन सी बीमारी है जिसमें यह दासी आपकी सेवा नहीं कर सकती? इस दासी की धृष्टता क्षमा करें, यह आपका विश्लेष अधिक नहीं सह सकती। आप इसे अपने चरणों से न हटावें। वह स्थान आप इसे पहिले दे चुके हैं। स्त्री-जाति का पति के सिवा संसार में अन्य

नहीं है। वह अपने पति का मलीन मुख नहीं देख सकती। पति का प्रफुल्लित मुख ही उसके सब सुखों का सार है। पति के ही सुख में उसका सुख है। उसके ही दुःख से वह भी दुखी है।

निमेष---मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि तुम मेरे योग्य नहीं हो। मैं सती का धर्म तुमसे अधिक समझ सकता हूँ। पति की आज्ञा उल्लंघन कर चिड़चिड़ाना स्त्री का धर्म नहीं है। वेश्याओं की तरह पति से लड़ना सती का धर्म नहीं है।

विजया के शिर में मानो अनभ्र वज्रपात हुआ। उसके तले से धरती खिसक गई। उसके प्रेम का आकाश फट गया। उसके सुख-सूर्य को केतु ने ग्रस लिया। वह निराधारा वेलि की तरह निमेष के चरणों में गिर पड़ी। विचारी का दारुण दुख कुछ काल के लिए विस्मृति के गहन गर्भ में विलीन हो गया। विजया मृत्यु की सहचरी मूर्छा की विरामदा गोद में सो गई।

किन्तु उसके भाग्य में यह सुख कहाँ था? वह कुछ काल के बाद फिर उठ गई। उसकी मूर्छा भंग हो गई। उसकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं। मानो सती सीता ने काली जी का रूप धारण कर रक्खा हो। विजया का शरीर काँप रहा था। उसने इधर-उधर देखा किन्तु निमेष को न पाया। वे घूमने को चले गए थे। विजया आवेग के वश फिर मूर्छित हो गई। एक तो विचारी विषम वियोग से दुखी थी, द्वितीय निद्रा न आने से दुर्बला हो गई थी, तिस पर यह अघोर लाँछन वह न सह सकी।

**"ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, ता पर बीछी मार।
ताहि पिलाई वारुणी, कहहु कौन उपचार?"**

जब विजया को चेत हुआ तो वह अपने क्रोध को न रोक सकी। वह यह नारकी लांछन, यह कठोर कलंक न सह सकी। उसे उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रहा। समय असमय का विचार न रहा। उसके होंट काँपने लगे। वह अत्यन्त आवेग के साथ कहने लगी—हाय! मुझे वेश्या बतलाने में तुम्हारी जीव कट न गई? मेरे लिए ऐसा अघोर शब्द प्रयोग करने में तुम्हारा मुँह बन्द नहीं हो गया! मेरे लिए ऐसा कटोर व्यवहार करने में तुम्हारा हृदय फट न गया। तुम सती-धर्म को जानने वाले बने और मैं वेश्या? तुम मुझे उपदेश दोगे? मैं कुछ नहीं हूँ तो स्त्री अवश्य ही हूँ, इसमें ब्रह्मा भी दूसरी ज़बान नहीं कर सकता। मैं अपने धर्म को—स्त्री के धर्म को, सती के कर्तव्य को अच्छी प्रकार जानती हूँ। तुम इसे बतलाने वाले कोई नहीं हो। तुम इसे नहीं जान सकते। तुमसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं। तुम इसके साधन में निमित्त मात्र हो। मैं तुम्हें नहीं पूजती, तुममें सती-धर्म को पूजती हूँ। मैं तुम्हारे योग्य न सही, किन्तु मैं अपने धर्म में सच्ची हूँ! अग्नि-शिखा सी पावन हूँ। मैं अपने धर्म पालन करने के लिए पूरी पूरी उपयुक्त हूँ।

विजया का क्रोध बकते बकते कम हो गया। उसका ज्ञान लौट आया। सुधि ने उसके हृदय में फिर पदार्पण कर लिया, सत असत के विवेक ने उसका अंचल पकड़ लिया। विजया मानो सोते

से जगी। वह डर से ठिठुर गई। उसका कलेवर कदम्ब का सा कुसुम हो गया। वह बार बार ईश्वर से क्षमा प्रार्थना करने लगी। अपने कहे पर अत्यन्त पछताने लगी। उसकी आंखों में आंसू न रुक सके। वह फूट फूट कर रोने लगी। बार बार अपने पतिदेव का स्मरण करने लगी। वह मन ही मन सोचने लगी—हाय ! मैंने यह क्या किया ? मेरी जीव अपने पति के लिए ऐसे कठोर वचन निकालने में शतधा क्यों न हो गई ! मेरे शरीर में त्रिशूल क्यों नहीं चुभे ? मेरा पाषाण का हृदय चूर-चूर क्यों नहीं हो गया। धर्म क्यों नहीं रो उठा ! हाय ! हाय ! मैंने घोर पाप किया। मेरे लिए नरक में भी स्थान नहीं रहा ! मैंने अपने स्वामी की अशुभ चिन्तना की। उनका तिरस्कार किया। अपने शुभ-सतीत्व पर कालिमा की कुच्ची फेरी। अपने धर्म की हत्या की। हाय ! इस घोर पाप का प्रायश्चित्त क्या हो सकता है ? इसके सामने सहस्र गोदान भी कम हैं। ढेरों रत्न लुटा देना भी कुछ नहीं है। शत-लक्ष वर्तिका व्रत भी कम है। यह अघोर अघ है ! अक्षम है ! इसका मार्जन नहीं हो सकता। हाय ! आज स्वर्ग में सतिएँ रो रही होंगी। पुण्य चेतना-रहित हो गया होगा। शुभकर्म दुःख से व्याकुल हो रहे होंगे। कर्त्तव्य कांप रहा होगा !

भगवन् ! मुझ अबोध बाला का अपराध क्षमा करो। मैं तब अपनी चेतना में नहीं थी। भले बुरे का ज्ञान मेरा साथ छोड़ कर चला गया था। स्मृति ने मेरी ओर आँखें मूँद ली थीं। सुधि ने

मेरी सुधि नहीं ली थी। मैं तब अज्ञानावस्था में थी। नाथ! मुझे क्षमा करो। हाय! इसका दण्ड मृत्यु से भी कठिन है। हे विधि! तू मेरे लिए एक नया दण्डविधान कर दे जिससे कि मेरे माथे से यह कलंक का टीका हट जाय!

अहा! दण्ड भी कैसी सुन्दर वस्तु है! कितना दिव्य द्रव्य है! कितना पवित्र तथा निर्मल है! इससा निरपेक्ष संसार में कौन है? इससा पवित्र करने वाला अन्य कौन है? हे दण्ड! तुम धन्य हो। तुम स्वयं ईश्वर की शास्ति हो। हाय! मैं तुम्हारा व्यर्थ भय करती थी, तुमसे वृथा डरती थी। तुम सा शिक्षक ईश्वर की सृष्टि में कोई नहीं है। तुम सा सर्वव्यापी, हितैषी, अभयदान देने वाला, तथा तुम सा सद्गुरु अन्य कोई नहीं है। हे निठुर! आज मेरे इस अपराध को मार्जन करो। मेरे कलंक को मिटाओ!

विजया इसी प्रकार अनुताप के अश्रुओं से अपना कलंकित वक्ष धो रही थी। उसकी चचेरी सास उसे ढूँढ़ती हुई आ पहुँची। उसने फिर अपनी काली की सी हुंकार छोड़ी—क्यों री नकटी, तुझे बार बार कहने पर भी लाज नहीं आती? लाज खो आई है लुच्ची! अभी तक सोई सोई खुर्राटें भर रही थी। अब उठी तो यहाँ बैठी है। चाय बना के दे आ कहा तो मेरे ललुए को न जाने क्या क्या खरी खोटी सुनाई। वह बिचारा तमतमाता हुआ चला गया। मैंने उसका मुख जाती समय देख लिया था मुँहझौंसी! मैं तुझे जानती थोड़ी नहीं हूँ। आज कल मेरा ललुआ न किसी से

बोलता है, न चालता है, न खाता है न पीता ही है, न जाने चोट्टी उसे क्या क्या सुनाती है ! कहती होगी मेरे लिए चन्द्रहार बनाओ, ऐसा लाओ, वैसा लाओ। वह बिचारा कहाँ से लावे। उसकी तलब तो तुझी डायिन का पेट भरने को चाहिए। आजकल छुट्टियों में घर आ रहा है। चोट्टी उसे सुख से नहीं रहने देती। जा, उठ, दाल चावल सुधार। काम करने के लिए कोई तेरी अम्मा थोड़ी आई है जो तू बैठ बैठ के खाए ! मेरे घर में बहू नहीं चाण्डालिन आई है।

विजया कुछ न बोली। करुणा रोने लगी। वह मानो विजया से कहने लगी—देवि, तू धन्य है, तेरी सहनशीलता को धन्य है। तू सती है।

विजया की सास चली गई। विजया भी अत्यन्त लज्जित होकर अपने काम को चली गई। आज उसकी आँखों के आगे अन्धकार छा रहा था। उसके स्वामी ने वह अपने अयोग्य बतला दी थी। स्त्री के लिए इससे अधिक दुख और क्या हो सकता है ? विजया को यह बात रह रह के याद आ जाती थी। उसका कलेजा शोक से जर्जर हो रहा था। उसका तरुण मुख-कमल मुरझा गया था। वह मन ही मन कहने लगी—हाय ! आज मैंने उठते ही किसका मुँह देखा !

विजया अन्नागार में जाकर चावल सुधार रही थी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधार बह रही थी। उसकी सास बापी में न्हाने को चली गई थी। इतने ही में बाहर से आवाज आई—

दिद्दी ! विजया ने सुफला की सरस आवाज पहिचान ली। उसने आवाज दी---आओ बहिन, मैं अन्नागार में हूँ।

सुफला अन्नागार में आ पहुँची। विजया उसे पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसका दु:ख कुछ घट गया। सुफला उसकी बड़ी प्यारी सखी थी। यद्यपि वह वय में विजया से बहुत छोटी थी तथापि वह गुण तथा बुद्धि-बल में उससे कम नहीं थी। सुफला आते ही अपनी सखी से कातर स्वर में पूछने लगी---क्यों बहिन, तेरा अंचल आज भीगा क्यों है ? मैं देखती हूँ कि आजकल तू दिन पर दिन कृश तथा दुर्बल होती जाती है। तुझे ऐसा क्या दु:ख है ? मैं कितने ही दिनों से सोचती थी कि तुझसे तेरी क्षीणता का कारण पूछूँ किन्तु उचित अवसर न मिलने से आज तक नहीं पूछ सकी। सखी, तेरे हाथ पाँव सूख से गए हैं। मुख का रंग उड़ गया है। हाय ! तुझे यह क्या हो गया ?

विजया---बहिन, मेरे दुख की क्यों पूछती है। मुझे ऐसा कोई दु:ख नहीं है। जब अपना ही भाग खोटा है तो दु:ख करके क्या होता है ?

सुफला---दु:ख तो संसार में लगा ही है। यहाँ सुखी कौन है ? हम समझते हैं कि राजाओं को दु:ख नहीं होता। किन्तु सारी प्रजा का भार उन्हीं के शिर में रहता है। रिआया दु:खी हुई तो उन्हें और भी दु:ख होता है। सखी, संसार का नियम ही ऐसा है, जो संसार में आता है उसे समझ लेना चाहिए कि दु:ख ही भोगने के लिए मेरा जन्म हुआ है। "सुखाद्बहुतरं दु:खं

जीविते नास्ति संशयः।" मनुष्य ने कटि परिकर होके सर्व दुःखों का सामना करना चाहिए। किन्तु दिद्दी, अपनों से कहके दुःख कम होता है।

विजया—बहिन, तुझसे अपना दुःख क्या छिपाऊँ? तुझसी सखी का मिलना मेरे किसी भारी पुण्य का ही फल होगा। सुन सखी, स्त्रियों के लिए पति से वियुक्त रहने से बढ़ कर और क्या दुःख हो सकता है? तिस पर भी यदि पति रुष्ट होकर अपनी स्त्री से न बोले तो स्त्री इस आपत्ति को कैसे ठेल सकती है? स्वामी ही सती का सर्वस्व है। जब पति ने ही त्याग दिया हो तब स्त्री का रहा ही कौन? वह किस आशा से बच सकती है?

तुझे इस बात का अनुभव नहीं है बहिन, तू मेरे दुःख को नहीं समझ सकती। मेरे हृदय की शत शत वृश्चिका-दंशन की सी पीड़ा तू नहीं जान सकती। मेरे शरीर में खर-त्रिशूलों के आघात की वेदना तू नहीं अनुभव कर सकती। हाय! किसी का क्या दोष?

सुफला—तेरा कहना सत्य है दिद्दी, मैं यहाँ पर अनुभव-शून्या अवश्य हूँ। किन्तु इस वेदना को अच्छी प्रकार समझ सकती हूँ। मेरे शरीर में यह पीड़ा न हो तो न सही किन्तु मेरा हृदय इसको अच्छी तरह अनुभव कर सकता है। जब कसाई हत्या करता है, खड्ग उठाकर निर्बल पशु पर वार करता है तो दर्शक का कलेजा क्यों काँप उठता है? जब कोई रोता है तो सुननेवाले का हृदय क्यों पिघल जाता है? उसके हृदय में क्रन्दन करने वाले का करुण स्वर आघात क्यों पहुँचाता है? उसके चित्त में चोट क्यों

लगने लगती है ? मन में मर्म-भरी वेदना क्यों होती है। सखी, जीव की व्यथा जीव भली भाँति जानता है ! हृदय की भाषा हृदय पहिचान लेता है, हम उसे नहीं सुन पाते। तू कहेगी फिर एक मनुष्य दूसरे पर अत्याचार क्यों करता है ? दूसरे को सताने में सुखी क्यों होता है ? तो इसका कारण यह नहीं कि उस अत्याचारी मनुष्य को परवेदना अनुभव न होती हो। प्रत्युत उस मनुष्य में एक राक्षसी शक्ति होती है, एक तामसी तृषा रहती है, उसके हृदय में एक कुटिल विष की अग्नि रहती है, द्वेष की दावा होती है जो कि प्रबल हो जाने पर यह अत्याचार कराती है, जो कि परपीड़न से शान्त होती है। यदि मनुष्य दूसरे के दुःख से दुःखी होना सीख जाते तो संसार सुखागार हो जाता। यहाँ दुःख न रहता। बहिन, मैं तेरे कष्ट को खूब समझ सकती हूँ। जिसके हृदय में करुणा नहीं हो, जिसका चित्त चीते के चमड़े का बना हो, जो कल्पना-शून्य हो, जो किसी के रोने में न रोता हो, जिसकी सूखी आँखों से कभी आँसू न आते हों, वही दूसरे के दुख को नहीं जान सकता। किन्तु उसे जीव नहीं कहते, पाषाण-प्रतिमा कहते हैं।

मैंने कल आशा के मुख से सुन लिया था कि आज कल जीजा जी तेरे लिए रुष्ट हैं, किन्तु इसमें तेरा क्या दोष बहिन, वे ही वैसे हैं। तुझ जैसी लक्ष्मी को दुःख देते हैं।

विजया---नहीं बहिन, ऐसा न कहो ! मैं उनकी बुराई नहीं सुन सकती। उनका इसमें कुछ दोष नहीं, मेरा ही भाग फूटा है। मैं ही नियति के वार से वंचिता हूँ। मैं ही अपराधिनी हूँ बहिन, मैं

ही दोषी हूँ। हाय ! यदि हम पति का मनोरंजन ही न कर सकीं तो हमारी स्त्री जाति में होना वृथा है। तब हमारा जीवन ही किस काम का रहा ? हमारा होना न हो—

विजया अधिक न बोल सकी। वह अपने अंचल में मुँह छिपा-कर रोने लगी। उसके आँसू रुकने पर भी न रुके। शोक की बाढ़ से साहस तथा धैर्य के उभय-तट टूट गए ! दुःख का सलिल आँखों से छलछला कर बहने लगा। विजया अपने को न सँभाल सकी। उसकी यह दशा देख कर सुफला को अत्यन्त दुःख हुआ। वह भी अपनी सखी के अंचल में मुँह छिपा कर रोने लगी। रोते रोते दोनों के दुःख का वेग कुछ कम हो गया। शोक की बाढ़ का जल नयन-नहरों से बह निकला। पीड़ा का प्रवाह कम हो गया। सुफला अपनी सखी से बोली—सखी, तुम अपने जीवन से इतनी निराश क्यों होती हो ! दुःख-सुख अनित्य हैं। संसार में किसी का समय सदा एक सा नहीं रहता।

"है निशि दिवा सी घूमती सर्वत्र विपदा सम्पदा।"

तुम्हारी यह विपत्ति शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी। तुम्हारे सुख के दिन द्रुत लौट आवेंगे —

"कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥"

धीरज धरो बहिन, तुझ जैसी सती के पास दुःख कहाँ फटक

सकता है। विपत्ति में धैर्य रखना ही मनुष्य का कर्तव्य है। दुःख का समय परीक्षा काल है! ईश्वर अपने लाड़िलों को सदा कष्ट ही देता है। ईश्वर को कष्ट ही प्यारा है। सती-शिरोमणि सीता जी को भी अपने स्वामी से वंचिता हो दानवपति-रावण की लंका में रहना पड़ा। ईश्वर अपने प्रेमियों को कष्ट-सहिष्णु बनाता है। उन्हें अनुभवी करता है। उन्हें सिखलाता है कि दुःख को किस प्रकार पराजित करते हैं? विपत्ति में भी अपना कर्त्तव्य किस प्रकार पालना चाहिए। संकट में भी धर्म की रक्षा किस भाँति होनी चाहिए।

अहा! सखी दुःख भी कैसा सच्चा सुहृद् है! हम इसे वृथा घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इससा शुद्ध परीक्षक और कोई नहीं है। इससा सहिष्णुता सिखलाने वाला और कोई नहीं है। अगर यह नहीं होता तो मनुष्य कोई भी काम नहीं करता। दया, क्षमा, उदारता आदि सात्विक गुण सभी इसी दुःख से जीवित हैं। यदि दुःख नहीं होता तो मनुष्य अपने को इन गुणों से अलंकृत करने का कष्ट भी नहीं उठाता। उसे अपने स्वार्थ के लिए ही इन गुणों से अपने को विभूषित करना पड़ता है। वह सोचता है कि कभी मुझ पर भी विपत्ति पड़ जावेगी तो अन्य भी मेरी सहायता इसी प्रकार करेगा। मेरे ऊपर दया करेगा। मेरे अपराधों को क्षमा करेगा। दुःख ही से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। "नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते।" यही मनुष्य को सतर्क रखता है। नहीं तो मनुष्य आलसी बन कर अपने भोग-विलास ही में लिप्त

रहता। यह संसार कभी डूब जाता। दुःख ही कच्छप-रूप बन इसे डूबने से बचाता है। कच्छप सा कठोर बन मनुष्यों को अपना धर्म पालन करने के लिए बाध्य करता है। दुख ही से सारे प्रयत्न प्रसूत होते हैं। इसके बिना मनुष्य निश्चेष्ट हो जाता। अहा! दुख ही सत्य है! सुख नहीं। इस क्षणिक सुख में मनुष्य दूसरे की ओर तक नहीं देखता। अपने ही विभव विलास भवनों में सड़ कर अपना सत्यानाश करता है। सुख कितना ही हो किन्तु तृप्ति नहीं होती। सदा अधिकाधिक का लालच बना ही रहता है। अतः दुःख ही तृप्तिकारक है! यह सुख भारी छल है! गहन प्रवंचना है!

हाय! सखी, संसार भी कैसा विचित्र है! इसमें दुःख का अपमान होता है, और क्षणिक सुख का सम्मान! सत्य का निरादर, असत्य का आदर! संसार में सत्य सदा वक्र दृष्टि से देखा जाता है। सच्चे मनुष्य को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। उसके निष्कपट व्यवहार से कोई सन्तुष्ट नहीं रहता! सच्चा व्यवहार सदा तीखा लगता है। जो "पेट कपटी मुख मीठे" होते हैं, जो "विषकुंभं पयोमुखम्" होते हैं जो "विषरस भरे कनक घट" होते हैं, इस कपटी संसार में उन्हीं की चलती है! उन्हीं के गले में दिखलावटी विजय-हार पड़ता है। वे ही सबके प्यारे होते हैं। सच्चे मनुष्यों का इस "माया कानन" में ठिकाना नहीं! उन्हें कोई भी नहीं पूछता!

धन्य मा! तेरी कैसी विचित्र सृष्टि है। कपट, छल, मोह,

मद, द्रोह, क्रोध, काम, झूठ आदि को तूने अत्यन्त सुन्दर रूप दिया ! उन्हें देखते ही मनुष्य इनके ऊपर मोहित हो जाता है। इनको तूने अमित आकर्षण शक्ति प्रदान की !

सुखद सुरभि दी जिनको तूने सखि ! जिनको छवि दी सुन्दर।
मैं उनके ढिग गई व्यग्र हो तुझे ढूढ़ने को सत्वर।
भ्रवरी बन उनके ढिग मैंने गाए तेरे गुण गुरुतर --
अह ! मैंने अपने को तुझसे अधिक दूर सखि, पाया पर !

तूने इन सबके अदृश्य 'निर्गुण' जाल में मनुष्य को डाल कर उसे क्षमा, दया, शौच, उदारता, संयम, सत्प्रेम, सत्य, धर्मादि से अमूल्य रत्न रक्षा करने को दिए ! और उन रत्नों को मणियों सा कठोर, अभूख सा अनाकर्षणीय, तथा कर्त्तव्यपालन सा कुरूप बनाया। तेरी महिमा अनन्त है। तेरी परीक्षा अत्यन्त कठिन है। तूने सत्य को कठोर किन्तु असत्य को कोमल बनाया ! सद्गुणों को कुरूप तथा निराकर्षणीय दुर्गुणों को 'खूबसूरत' और महाकर्षक बनाया। 'कठोर प्रस्थर अपने हृदय में स्थान देता है, किन्तु द्रवित सलिल पाँव रखते ही डुबा देता है।' तूने भले बुरे की पहिचान बड़ी कठिन रक्खी !

दिद्दी, संसार ऐसा विचित्र है ! किन्तु तेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता ! तेरा धर्म पावक सा उज्ज्वल तथा पवित्र है ! तेरा श्रृंगार सत्य सा अटल है ! अब जीजा जी का क्रोध, शीघ्र शान्त हो जावेगा। वे तुम्हें अवश्य क्षमा करेंगे।

रसोई बनाने का समय आ गया था विजया का दुख भी सुफला

की बातों को सुन कर कम हो गया। वह रसोई बनाने को चली गई। सुफला भी अपने घर को चली गई।

संसार में मित्रता भी एक दुर्लभ द्रव्य है। समवेदना भी अपूर्व शक्तिमती है। धैर्य भी एक अनुपम अलंकार है। दुःख भी बड़ा परीक्षक है!

पंचम पुष्प

शरद-शशि

सायंकाल का सुहावना समय है। शरद ऋतु का आकाश अत्यन्त निर्मल हो रहा है। आराम में शस्तासन्न रवि-किरणों ने कनक-जाल सा डाल रक्खा है। न जाने भास्कर भगवान आज किसे फँसाने को यह जाल डाले हुए हैं। आराम की "अरुणिमा विनिमज्जित" वृक्ष-राशि में बैठा विहग वृन्द गेरुए पट पहने ब्रह्म-चारियों के दल की तरह श्री दुर्गादेवी जी के गुण गा रहा है। आराम का निर्मल सुरभि-सिंचित अनिल अपने मृदु कर-तलों से ताली बजाता हुआ इधर उधर घूम रहा है।

तरलंग आजकल जल से लबालब भरा है। उसके कूल में खिला कमल-दल एकाग्र दृष्टि से अस्तासन्न रवि को देख रहा है। भविष्य भी एक शिलोपरि बैठे एकटक एक ओर को देख रहे हैं। उन्हें यह सायंकालीन शोभा कुछ भी आनन्द नहीं दे रही है। सच है "विपदि हन्त सुधापि विषायते !" उन्हें आशा के विरह ने विकल कर रक्खा है। वे मन ही मन प्रलाप कर रहे हैं—आज आशा को देखे एक मास हो गया है। वह आजकल अपनी सखी के साथ नौका-विहार करने भी नहीं आती है। हाय ! एक ही वर्ष बीता है कि मैं और वह पहिले से इन दिनों में सदा नौका-रोहण कर

शरद ज्योत्स्ना में तरलंग की अपूर्व शोभा देखते थे। मैं चन्द्र-कमल तोड़ कर आशा के जूड़े में बाँध देता था। उसकी फणि उठाई नागिन सी वेणी में वह कमल मणि सा अत्यन्त सुन्दर दिखलाई देता था। पर अब वे दिन स्वप्नवत् हो गए हैं। हा! संसार में किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते हैं!

"जिन दिन देखे वे कुसुम बीती चली बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥"

जिस दिन से आशा ने मेरे मानस में विहार करना आरम्भ किया, जिस दिन से मैंने उसके जूड़े में अपना प्रणय-पद्म गूँथ दिया, उस दिवस से वह तरलंग-सरोवर में घूमने नहीं आती है। जिस दिन से वह मेरे अनुराग की नाव में बैठी उस दिन से उसने नौका-रोहण करना छोड़ दिया है।

आशु! क्या तुम भी मुझे इतना ही प्यार करती हो? क्या तुम भी मेरे लिए इतनी ही उत्कण्ठिता रहती हो? क्या तुम भी मुझे अपने प्रणय के सूत्र में गूँथ चुकी हो? अपना हृदय मेरे ऊपर न्यौछावर कर चुकी हो? प्रिये! क्या तुम भी मेरा ध्यान करती हो? क्या तुम्हें भी मेरी स्मृति चंचल कर डालती है, मेरी याद उत्कण्ठा के पाश में बाँध देती है? क्या तुम्हारे दृग-सन्मुख भी स्वर्णमय भविष्य मुसकाता है? वह भविष्य—जिसमें मुरझे कमल खिल उठते हैं, अलि मधुर वीणा बजाते हैं, विहग सुन्दर गाने लगते हैं, कोक शोकमुक्त हो जाते हैं, पथ भूले दृग मार्ग पकड़ लेते

हैं, तम का मुख उज्ज्वल हो जाता है, संसार आलोकित हो उठता है, आशा मन्द मन्द मुसकाती है, भविष्य उसका मुख चूमता है और सुख निर्निमेष उनकी ओर देखता है ?

कहते हैं कि प्रेम परस्पर होता है। प्रेयसि, यह क्या सत्य है ? क्या तुम भी मुझे चाहती हो ? मेरे हृदय की उत्सुकता से अभिज्ञ हो ? मेरे प्रेम से परिचिता हो ?

अहा ! एक दिन जब हम ऐसे ही समय तरलंग में नौका-विहार कर रहे थे तब तुमसे सुफला ने पूछा था कि तुम किसे बरोगी ? प्रिये! तुम नहीं समझी थी। तब तुम्हारी सखी ने तुम्हें समझाया था कि तुम किसके साथ विवाह करोगी ? किसके गले में हार डालोगी? प्राण, तब तुमने अपनी पतली अँगुली मेरी ओर उठाई थी। तुम पीछे सकुचाई थी कि कहीं मैंने तुम्हारा यह संकेत न देख लिया हो। पर यह बहुत वर्षों की बात है तुम्हें इसकी स्मृति नहीं होगी।

हाय ! अब तुम उसी प्रकार आकर निर्भय मेरे पास क्यों नहीं बैठती ? मुझसे अपने लिए हार क्यों नहीं गुँथवाती ? अब तो मैं उन दिनों से बहुत अच्छा हार बनाने लग गया हूँ। "मेरी साड़ी काँटों में उलझ गई है"—कह कर अब तुम मुझे क्यों नहीं पुकारती? जब कभी तुम्हारा जूड़ा खुल जाता था तो मैं उसे फिर बाँध देता था। प्रिये, अब मैं बहुत अच्छा जूड़ा बाँध सकता हूँ—अब तुम मेरे पास क्यों नहीं आती ? क्या तुम मुझे अब प्यार नहीं करती ? नहीं, सचमुच नहीं करती हो। नहीं तो तुम मेरे पास क्या नहीं आती ? ठीक है मुझमें ऐसा कौन सा गुण है जो तुम्हें बाँध सके !

तुम्हें मुझसे अच्छे जूड़े बाँधने वाले मिल सकते हैं, मुझसे अच्छे साड़ी सुलझाने वाले मिल सकते हैं; किन्तु मुझे---मुझे तुम सा मन बाँधने वाला कोई नहीं मिल सकता। तुम सा ग्रन्थि सुलझाने वाला कोई नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रियतमे ! तुम्हें मुझ सा सुमन-शृंगार करने वाले अनेकों मिल सकते हैं, तुम्हारे लिए मुझ से खेलने वालों का भी अभाव नहीं है। किन्तु सुमुखि ! मेरे लिए तुम्हारी जैसी सुमना का पाना कठिन है ! तुम जैसी खिलौने की प्राप्ति असम्भव है।

पर हाय ! तुम मेरी चिन्ता क्यों करोगी ? मुझमें क्या है ? "नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास !" न गुण, न रूप, न विद्या-बल ! किन्तु मैं तुम्हारी उस मादक छवि को नहीं भूल सकता ! तुम्हारी "वह चितौनि औरे कछू" नहीं भूल सकता ! तुम्हारी "दीप-शिखा सी देह" के लिए मेरा मन-पतंग सदा भटकता रहता है। मैं तुम्हारे चन्द्रानन को अपने हृदय से नहीं हटा सकता ! जब जब वायु के झोंकों से तरलंग का जल अधिक चपल हो उठता है तब तब मैं अपने चारों ओर देखता हूँ कि कहीं से मेरी चन्द्रानना तो नहीं आ रही है। मैं दिन में भी चाँद ढूँढ़ता हूँ, किन्तु तुम कभी नहीं आती हो !

हाय ! क्या मेरी आशा निराशा मात्र है ? क्या मैं अभी तक विधि-विधान के मरु में व्यर्थ भटक रहा हूँ ? क्या मैं मृग-मरीचिका के लिए उत्कण्ठित हो रहा हूँ ? क्या मेरी आशा कल्पित है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

"जाको जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।"

मेरे हृदय की आशा-कलि अवश्य फूटेगी! मेरा चाहा धन मुझे अवश्य प्राप्त होगा। वह छवि के बन की रसाल-रूप-मंजरी मेरी अवश्य कहलावेगी।

मैं दिन-दिन विह्वल होता जाता हूँ, किन्तु मुझे उस विह्वलता के बीच अपनी प्रियतमा की मूर्ति मिलती है। प्रस्थर के भीतर जल छिपा मिलता है। मिट्टी के मन्दिर में अनन्त-शक्तिमती की प्रतिमा स्थापित दृष्टिगत होती है। "श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा" दिखलाई देती है। किन्तु हाय! यह आशंका फिर भी साथ नहीं छोड़ती है।

प्रेम, क्या तुम्हारी लीला इतनी विचित्र है? क्या तुम्हारे यहाँ दुःख ही दुःख मिलता है? क्या तुम जान-बूझ कर किसी को लुटाने ही में आनन्दित होते हो? क्या तुम्हें अचल को चंचल करने में ही सुख मिलता है? क्या तुम दोनों को लड़ाना ही अपना कर्तव्य समझते हो? किन्तु तिस पर भी तुम सबके आराध्य क्यों हो गए हो? तुम्हारे यहाँ दुःख ही में सुख क्यों मिलता है? लुटने ही से जुटाव क्यों होता है? चंचलता ही में शान्ति क्यों मिलती है? लड़ने ही से मेल क्यों अधिक होता है?

"दृग उरझत टूटत कुटम जुरत चतुर-चित प्रीति,
गाँठ परत दुरजन हिए दई! नई यह रीति!"

प्रेम! तुम्हारी रीति इतनी न्यारी क्यों है?

"कानन चारी नैन मृग नागर - नरन शिकार"---

तुम्हारे यहाँ यह कैसा आखेट खेला जाता है ? हे शक्तिमन् ! तुम दुर्बलों पर ही अपना वार क्यों करते हो ? क्या तुम मेरी प्रेयसी के भ्रू-भंगों से भय खाते हो ? उन निर्गुण धनुषों के बाणों से डरते हो ? जो तुम "यतस्तत्नेत्र संचार सूचितेषु प्रवर्तते।" जाओ, प्रेम, एक बार अपने कुसुम शर से मेरी प्रियतमा का हृदय भी छिन्न कर आओ ! यदि तुम उसके "उपलेन चेत:" से भय खाते हो तो एक बार अपनी मधुर मुरली बजा कर उसके मृग-दृगों को इधर फेर दो। प्रेम, मेरा इतना उपकार कर दो।

"पीड़ा खो के प्रणत-जन की पुण्य होता बड़ा है।"

भविष्य इसी प्रकार विचार-मग्न थे। इसी समय निमेष भी मन बहलाने के लिए यहाँ आ पहुँचे। भविष्य निमेष की आन्त-रिक दशा से परिचित न थे। वे अपने मन के भाव छिपा कर निमेष से परिहास करने लगे। किन्तु निमेष उनकी दशा को भली भाँति जानते थे। वे भविष्य से पूछने लगे---क्यों आज उदास से क्यों हो रहे हो ?

भविष्य---दद्दा उदासी कुछ नहीं है। शिर-पीड़ा हो रही है, इसी से मुख मलीन हो रहा है।

निमेष---हाँ, 'शर-पीड़ा' अवश्य सताती है।

भविष्य के सुनने में निमेष का व्यंग भरा 'शर' नहीं आया। वे निमेष की अधिक छेड़छाड़ से बचने के लिए उनसे गाना सुनाने

के लिए अनुरोध करने लगे। निमेष संगीत-शास्त्र में बड़े निपुण थे। उनका स्वर भी बड़ा मधुर था, किन्तु अब वे और दिनों के से निमेष नहीं रह गए थे। वे अत्यन्त दुर्बल हो गए थे। उनका स्वर भी क्षीण हो गया था। उन्हें तो आज सोए पूरे चार मास हो गए थे। वे भविष्य से बोले––गाने के लिए तो आज स्वर ठीक नहीं है, किन्तु तुम कहते हो तो एक दो गत वंशी में बजाऊँ।

भविष्य––वाह ! यह तो गाने से भी अच्छा हुआ। तुम्हारी वंशी के लिए कान अकुला रहे हैं।

निमेष––क्या मेरी वंशी की सी मीठी आवाज और किसी की नहीं है ?

निमेष इतना सुना कर जेब से वंशी निकाल कर बजाने लगे। उनके वंशी की ध्वनि वायु में मिल कर सारे आराम में फैल गई। भविष्य एक बार अपने सब दुःख भूल गए। निमेष ने वंशी बजाना बन्द कर दिया। भविष्य फिर अनुरोध करने लगे। निमेष इसी प्रकार कितनी ही गत बजा चुके थे किन्तु भविष्य का मन नहीं भरता था।

भविष्य के हृदय का दुःख उड़ कर हवा में मिल गया। संसार में एक मलीन कालिमा छा गई। भविष्य के हृदय में परिवर्तन देख प्रकृति ने भी अपना पट बदल लिया। किन्तु भविष्य उस सुनहले सायंकाल को नहीं भूले थे। वह वायु की मन्द मन्द गमन-ध्वनि, वह विहग-बालाओं का कलरव ! वह तरलंग का तरंगोत्थित कल्लोल, वह निमेष की मुरलिका का मधुर-सुर ! ––भविष्य ने

और सुनी थी इन सब की मिश्रित मृदु प्रतिध्वनि ! भविष्य सोचने लगे, संगीत का कैसा मधुर मेल हो रहा था !

निमेष बजाते बजाते थक गए थे। इसी लिए वे कुछ विश्राम लेने को रुक गए। भविष्य कहने लगे——अहा ! संध्या का समय भी कैसा अपूर्व मेल है ! कैसा मंजुल-ऐक्य है ! ——दुःख का सुख का ! कमलिनी कुम्हलाने लगती है, कुमुदिनी खिलने लगती है। सारे दिवस के कार्य-कष्ट नष्ट होने लगते हैं, तथा निद्रा की विराम-प्रदा क्रोड़ में सोने की आशा उत्पन्न होने लगती है।——कैसा अनुपम मेल है ! आतप का शीतलता का। चण्डकर के प्रचण्ड-कर-शर अस्त हो जाते हैं। तथा शीत रश्मि के स्वागत का शुभ-सम्वाद मन्द-मारुत देने लगता है।——कैसा नवीन मेल है ! आकाश का तम का ! कैसा अपूर्व ऐक्य है ! द्युति व तिमिर एक नव्य-रूप धारण कर लेते हैं ! कैसा सुन्दर-स्वरूप है ! कैसा सुखद स्वर्ण-वर्ण है। 'कनक' सा द्युतिमय, 'कनक' ही सा मादक ! किन्तु अब यह निशा ने अपने काले अंचल में छिपा लिया है।

मानो भविष्य की इस सुन्दर उक्ति का प्रतिबिम्ब अनन्त नभ में पड़ा ! तारक-राशि धीरे धीरे झलमलाने लगी। निमेष ने वंशी हाथ में लेकर फिर 'यमन कल्याण' की गत छेड़ी। सारा आराम गूँज उठा। भविष्य संगीत-सरोवर में तैरने लगे। तर-लंग का जल चंचल हो आया। दुर्गादेवी जी के मन्दिर का प्रदीप जल उठा। भविष्य ने देखा पूर्व में एक दिव्य-पीत-आलोक कोटि-दीप की शिखाओं सा समुज्ज्वल ! वह आलोक धीरे-धीरे दिशाओं

में फैलने लगा। मानो रम्या-रमणी का विवाह हो रहा हो और वह अपने श्यामल शरीर में हरिद्रा लगा रही हो! तारक-दल मानों अभ्यागतों का संघ हो! भविष्य ने देखा एक उज्ज्वल कांचन कान्ति पूर्व-दिशा में हँस रही है। भविष्य सोचने लगे मानों कनक-कान्तिमती दुर्गादेवी जी अपनी सहचरी शक्ति को लेकर मन्दिर की सीढ़ियों से तरलंग के निर्मल-जल में विहार करने को उतर रही हैं। भविष्य ने देखा धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ रहा है। भविष्य ने देखा पूर्व-दिशा में शरद ऋतु का राकापति अपने सहचर पीयूष के साथ मुसकरा रहा है। भविष्य को याद आया —

"ये पूर्वः यवसूचिसूत्रसुहृदो ये केतकाग्रच्छद —
च्छायासाम्यभृतो मृणाललतिका लावण्यभोजोऽन्नये
ये धाराम्बुविडम्बिनः क्षणमथो ये तारहारश्रिय —
स्तेऽमी स्फाटिकदण्डमम्बरचितो जातास्सुधांशो कराः।"

भविष्य ने देखा तरलंग में धीरे-धीरे पूर्व से एक नाव आ रही है, भविष्य को यही धारणा हुई कि दुर्गादेवी जी अपनी सहचरी शक्ति के साथ तरलंग की शोभा देख रही हैं। भविष्य बोल उठा—

धन्य तरलंग! तू बड़ा पवित्र है!

निमेष की 'यमन कल्याण' की गत अभी पूरी नहीं हुई थी। नाव धीरे-धीरे उनके पास ही आ गई। तरलंग के तरल-जल में अगणित तारकों का प्रतिविम्ब "दुहरे तिहरे चौहरे" पड़ रहा था। पूर्ण चन्द्र का प्रकाश था। दोनों चकोरों ने अपने-अपने "शरद-शशि" पहिचान लिए। आशा तथा सुफला ने भी उन्हें देख

लिया। वे दोनों देवी-दर्शन करके लौटी आ रही थीं। निमेष के 'यमन कल्याण' की गत छेड़ते समय सुफला ने ही देवी-द्वार का दीपक प्रज्ज्वलित किया था। भविष्य तथा निमेष को अपार आनन्द हुआ। एक को दूसरे की सुधि नहीं रही। दोनों के "पलकन्ह परिहरिय निमेषी।" तरलंग का जल समधिक चंचल हो आया। नाव हिलने लगी। प्रतीत हुआ मानो राकेश्वर की अदृश्य रश्मिराशि ग्रहण कर रूप तथा यौवन तरल-तरंगों में झूल रहे हैं। पीयूष तथा प्रभा हिलोरें ले रहे हैं। तारकों का बिम्ब तरलंग के जल में चपल हो गया। भविष्य तथा निमेष के दृग-तारक भी चपल हो गए!

सबसे तो अद्भुत पर यह था आज चकोरों के दृग-द्वय
तृप्त नहीं होते थे सन्मुख देख चारु-त्रय-चन्द्र-उदय!

निमेष अपने को न सँभाल सके। उनके अधरों की वंशी अधरों में ही रह गई। उन्हें आज सुफला का रूप और भी असा-मान्य मालूम पड़ा! शरदेन्दु के आलोक से उसकी छवि का मेल अत्यन्त मधुर लगा! सुफला का अंचल वायु के झोंके के साथ उसके शिर से खिसक पड़ा। वह अपने जूड़े में देवी-प्रसाद का पुष्प लगा लाई थी। निमेष के लोचन-भृंग मँडराते हुए उस सुमन पर अड़ गए! निमेष का हृदय सुफला की नागिन सी वेणी की प्रसून-मणि के आस-पास पतंग सा भ्रमण करने लगा। उनका मन हाथ में न रहा! उन्होंने एक आह छोड़ ही दी!

भविष्य को इस सब की कुछ खबर नहीं थी। उनकी भी वही दशा हो रही थी। वे दो ही घण्टे पूर्व जिससे मिलने के लिए उतने अकुला रहे थे वही उन्हें इस समय मिल गई थी। वे आशा के अनन्त रूप-सुधा-निधि में तैरने लगे।

इतने ही में अनिल मानो गाने लगा! सुफला आशा से कहने लगी—सखी अब तो नाव किनारे लग चुकी है।

आशा का ध्यान सहसा भंग हुआ। वह भय के मारे ठिठुर गई। आज वह अनर्थ कर चुकी थी। शरद-शशि का कलंक आज उसके चन्द्राकार-भाल पर लग गया था। उसने आज भविष्य का सर्वस्व लुटा दिया था। आज वह "ह्वै मुलरी सुर लीन" अपनी कुल-गली तज चुकी थी। आशा आज अपना सर्व-नाश कर चुकी थी। उसने आज स्त्रियों के उज्ज्वल धर्म को तिलांजलि दे दी थी। उसके दृग-मृगों ने आज निमेष की वंशी पर मुग्ध हो आशा के हृदय को कुसुम-बाण से बिंधवा दिया था। वह भविष्य का ध्यान भूल गई। भविष्य का चिर-सिंचित स्नेह का राग आज उस विषैली वंशी की फुफकार से काला पड़ गया। आज आशा को निमेष की वंशी ने कील दिया।

आशा बड़ी लज्जित हुई कि सुफला ने मेरे मन का भाव जान लिया है! उसे बड़ा भय हुआ! उसे सुफला की बात का कुछ उत्तर न सूझा। सुफला समझी कि आशा की यह दशा भविष्य दद्दा को देख कर हो रही है। वह हँसती हुई बोली—नाव से तो उतर जावें फिर दद्दा ही के मुख को ताकती रहना।

आशा की जान में जान आई। वह सकुचाती हुई नाव से उतर गई। सुफला भी नाव से उतर गई। नाव किनारे बाँध दी। सुफला आकर भविष्य की दाहिनी ओर खड़ी हो गई। आशा भी सकुचाती हुई सुफला के पीछे खड़ी हो गई और छिपे छिपे निमेष की ओर प्रहार करने लगी। निमेष भविष्य से तीन हाथ की दूरी पर दूसरी शिला पर बैठे थे। आशा आज भविष्य के लिए अपना सब प्यार खो चुकी थी। हाय! सहसा ऐसा परिवर्तन संसार में कहीं नहीं हुआ! सुफला भविष्य से बातें कर रही थी। किन्तु आशा का ध्यान उस ओर न था। उसके नयन-मीन निमेष के असमान्य रूप-सागर में विहार कर रहे थे।

"चख ले चातक स्वाति-सलिल छिप छिप के चख ले।"

निमेष की अवस्था २८ वर्ष की थी। वे भविष्य से अधिक सुन्दर थे। इसी लिए आशा का अनुराग पल पल में उनकी ओर बढ़ रहा था। उसके लालची लोचन पराए धन के लिए तड़फ रहे थे। उसने आज लज्जा तथा संकोच को तिलांजलि दे दी थी। ठीक कहा है—

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।"

निमेष को इसकी कुछ भी खबर नहीं थी। वे अपनी चाल सुफला की ओर लगाए थे। धैर्य पल-पल में उनका साथ छोड़ रहा था। उन्होंने यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। वे

भविष्य को किसी आवश्यक कार्य का बहाना बतला के घर को चले गए। किन्तु निमेष का हृदय उनके साथ गया वा नहीं---कौन जाने ?

आशा को बड़ा दुःख हुआ। उसके दृगों को शरदेन्दु का हास फीका लगने लगा। उसने नयन-चकोर अपने चाँद के लिए तड़-फने लगे। उसे पल पल व्यतीत करना कठिन हो गया। वह सुफला को घर लौटने के लिए बार बार ठसकाने लगी। सुफला भविष्य की आशा लेकर आशा के साथ घर को चली गई। आज आशा सुफला के ही यहाँ रही।

भविष्य तथा आशा में कुछ भी बातें न हुईं। उसके लिए आज यह उक्ति चरितार्थ हो रही थी —

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

षष्ठ पुष्प

निराशा

हाय ! आज प्यारे का "मुख-कमल विलोके" पूरा एक मास हो गया है। उस पौर्णमासी से अभी तक उस चन्द्र के दर्शन नहीं हुए। दृग-चकोर अकुला रहे हैं। पलक उन्हीं के ध्यान में निर्निमेष रहते हैं। चित्त-चातक उस नव-जलधर के लिए तड़फ रहा है। उस मधुर मुरली का सोमरस पान करने के लिए श्रवण व्याकुल हो रहे हैं। हाय ! वह मादक राग तब से अभी तक नहीं सुना। उनकी वह छवि अभी तक मन में अंकित है। भुलाने पर भी नहीं भूली जा सकती।

"कैसे भूला जा सकता है जो कुछ देखा सुना कभी ?"

वह मूर्ति अभी आँखों के सामने अविकल विद्यमान है। वे बड़ी-बड़ी आँखें अभी तक दृग-सन्मुख चित्रित हैं। हृदय उन्हीं के पास चला गया है ! मेरा इसमें क्या दोष ? मेरा क्या अपराध है ! मैं निबला हूँ।

"जो जन जिसे प्यार करता है जाता है वह उसके पास,
मदन-राज के विधि-लंघन में कर सकता है कौन प्रयास ?"

हाय ! तब मैं उन्हें अच्छी तरह देख भी नहीं सकी। यदि

उस समय लज्जा तथा भय का जाल तोड़ कर एक बार उनका मंजुल मुख अच्छी तरह देख लेती, एक बार अपने अतृप्त नयनों से उस रूप-राशि का पान कर लेती, एक बार श्रवण-सीप में उस मुरली का स्वाति-जल अच्छी तरह पड़ने देती, खुले हृदय से वंशी के सुर से कण्ठ मिला कर, "वंशी बजा के सुनाए हमको मीठे तान" गा लेती तो चित्त में कुछ चैन पड़ता, आँखों को कुछ शान्ति मिलती, श्रवण कुछ सुख पाते। किन्तु "फिर पछताए क्या हुआ ?" तब मैं ऐसा न कर सकी।

उनके मुख-चन्द्र की सुधा का पान आँखों ने जो कुछ छिप छिप कर किया था वह अबतक अविरल बहा जाता है। आँसू रोकने पर भी नहीं रुकते।

"अलि इन आँखिन को कछू न्यारी लगी बलाय।
नीर भरी निशिदिन रहें तऊ न प्यास बुझाय।"

हाय ! प्राणेश, एक बार फिर अपने दर्शन दे जाओ। मधुर मुरली की तान सुना जाओ। हाय ! तब तुमने मेरी ओर एक बार देखा तक नहीं। एक बार मन्द मुसका कर मेरे तृषित लोचनों को पुरस्कार तक नहीं दिया। तुम तब उठ कर चले गए। एक बार मेरी हालत देख तक नहीं गए।

हा ! भगवन्, उस दिन किस कुघड़ी में घर से गई थी। उस दिन मैंने किसका मुख देखा था। हाय ! अब मैं विजया दिद्दी को किस प्रकार मुख दिखलाऊँगी। उससे क्या कहकर बोलूँगी।

छि: अब वह मेरी दिद्दी नहीं। मैं उसकी बहिन नहीं हूँ। उसकी सौत हूँ। मैं स्त्री नहीं हूँ। पिशाचिनी हूँ।

हाय! मैं अपने को वृथा क्यों दोष दे रही हूँ। मैंने ऐसा क्या अपराध कर रक्खा है? संसार में ऐसा कौन है जो किसी को प्यार नहीं करता, जो किसी को चाहता नहीं?

"शम्बरारि-शर सहे कौन है त्रिभुवन भर में ऐसा वीर?"

फिर मुझ अबला की क्या सामर्थ्य? मेरा इसमें क्या वश चलता है? सभी किसी न किसी को प्यार करते हैं। सभी किसी न किसी को चाहते हैं। मैं भी उन्हें चाहती हूँ, मैं भी उन्हें प्यार करती हूँ। तो मैं पिशाचिनी क्यों? मुझे पाप किस बात का? किन्तु हाय! तब मैंने भविष्य को क्यों प्यार किया था? पहिले उन्हें अपना मन क्यों दिया था? उन्हें आशा क्यों दिखाई थी? मैं अवश्य पिशाचिनी हूँ, अवश्य पापिष्टा हूँ। मैंने बड़ा दुष्कर्म किया। मैंने पहिले एक को वर कर फिर दूसरे को पाने की अभिलाषा की। मैं भविष्य के सब गुण भूल गई। उनका सब प्यार भूल गई। मैं उनकी बाल्य-मैत्री तक भूल गई! भगवन्! मुझे क्षमा करो!

छि: मैं यह क्या कह रही हूँ? क्षमा किस बात की, मैंने क्या किया? मैंने भविष्य से कब कहा था कि मैं तुम्हें वरूँगी? उनसे कब कहा था कि मैं तुम्हें चाहती हूँ? उनसे मैं कब बोली थी कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ? वही मुझे प्यार करते हैं, मुझसे विवाह

करना चाहते हैं। किन्तु इससे क्या जो जिसे चाहता है, वह उसे मिल ही थोड़ी जाता है। लालची ढेरों सोना चाहता है तो क्या उसे मिलता है ? अन्धा दृष्टि चाहता है, तो वह क्या उसे पाता है ? यदि बामन चाँद की इच्छा करे तो इसमें किसी का क्या दोष ? मालती के जीजा तो मालती को उतना चाहते थे, उतना प्यार करते थे, पर वह क्या उन्हें मिली ? उमा तो कुमार को प्रतिभा से भी अधिक चाहती थी पर क्या कुमार ने उसके साथ विवाह किया ? उमा बिचारी को जोगिन होना पड़ा। और शैवलिनी ने तो प्रताप से उतनी बार प्रार्थना की थी, पर क्या प्रताप ने शैवलिनी को अपनी बनाया ? वे दोनों भी तो बाल-सहचर थे। तब फिर मैं अपने चाहे धन को पाने के लिए क्यों चिन्तित न होऊँ ? जिसे मैं प्यार करती हूँ, उसकी दासी बन कर क्यों न रहूँ ? भविष्य मेरे कौन लगते हैं ? उनमें क्या रूप-गुण है जो मैं उन्हें अपना तन मन यौवन अर्पण कर दूँ ? वे मेरे कोई नहीं हैं। मैं उन्हें प्यार नहीं करती। मैं उन्हें जब चाहती थी तब चाहती थी। अब मैं उन्हें नहीं चाहती। जब तक मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु नहीं मिलती तब तक वह एक सामान्य चीज में ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु पहिली के प्राप्त होने पर दूसरी का मूल्य घट जाता है। काँच मणि के सामने नहीं ठहर सकता। काक कादम्बरी का उपमान नहीं हो सकता। साधारण जल की तुलना गंगा-वारि से नहीं हो सकती।

मैं आज तक उन्हें न पहचान सकी थी। उन्हें अच्छी तरह

देखने का अवसर मुझे नहीं मिला था। इसी लिए मैं भविष्य में भूली थी।

"बक हो नहीं सकता कहीं है हंस का सानी कभी।"

भविष्य मेरे योग्य नहीं है। मैं उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती। किन्तु यदि वे मुझे प्यार नहीं करते हों, यदि वे मुझे नहीं चाहते हों, तब मैं क्या करूँगी ? तब मैं किसके पास जाऊँगी, किसकी होकर रहूँगी ? अपना यह दुःख किसे सुनाऊँगी ? मुझ से सब घृणा करेंगे। मेरे लिए फिर संसार में ठौर नहीं रहेगी। मेरे लिए फिर सुख नहीं रहेगा। शान्ति नहीं रहेगी। आमोद-प्रमोद नहीं रहेंगे। हाय! तब मैं विजया दिद्दी का सुख कैसे देख सकूँगी ? उसका शृंगार कैसे सह सकूँगी ? उसके बिछुओं की छन छन मुझे बिच्छुओं की तरह काटेगी। उसका सिन्दूर मुझे पावक शिखा सा प्रतीत होगा। मैं पतंगिनी सी जल मरूँगी। उसके सुहाग का चिन्ह मुझे काले साँप की तरह काट खाएगा।

पर ऐसा क्यों होगा ? ऐसा कहाँ सम्भव हो सकता है कि मैं उन्हें चाहूँ और वे मुझे न चाहें। मैं उनके गले में जयमाल डालूँ और वे न पहिनें। मैं उनके चरणों में अपना हृदय अर्पण करूँ और वे न स्वीकार करें। मैं क्या विजया से कम रूपवती हूँ ? फिर वे मुझे क्यों न अपनावेंगे ? क्यों न अपनी बनावेंगे ? किन्तु यह मालूम कैसे हो कि वे मुझे चाहते हैं, मैं कैसे जानूँ कि वे मुझे अपनावेंगे ?

आशा इसी प्रकार प्रलाप करती अपने कमरे में बैठी थी। वह दर्पण हाथ में लेकर अपना रूप देखने लगी। अपने आँख, कान, नाक, भौं, सब की सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करने लगी। उसकी दृष्टि अपने अरुण बिम्बाधरों में आकर अटक गई। आशा अपने रूप पर आप ही मुग्ध होने लगी।

इतने ही में किसी ने पीछे से कहा —

"सूरज-मण्डल में शशि-मण्डल मध्य धसी जनु जात त्रिवेणी।"

आशा ने सहम कर पीछे को देखा तो सुफला।

आशा अपने रूप-सागर में इतनी मग्न थी कि वह सुफला का आना भी न जान सकी।

सुफला—आज अभी से शृंगार हो रहा है। क्या फिर दर्शन करने की इच्छा है ?

आशा कुछ डर कर बोली—कैसे दर्शन ?

सुफला—कैसे दर्शन ? बड़ी भोली बन बैठी है !

आशा के हृदय में साँप लोटने लगे। वह एकटक सुफला के मुख की ओर ताकने लगी।

सुफला फिर बोली—देवी-दर्शन।

आशा की मृतक-देह में फिर प्राण का संचार हुआ। उसे चिंता हुई थी कि कहीं सुफला को मेरी सब बातें मालूम न हो गई हों। उसे सुफला के ऊपर इस प्रकार सूनसान आने के लिए क्रोध भी आया। अपराधी सदा सशंकित ही रहता है। उसकी यही दशा होती है। आशा कुछ न बोल सकी।

उसकी अजीब दशा देख कर सुफला को पहिले तो कुछ विस्मय हुआ किन्तु फिर वह समझी कि आशा का स्वास्थ्य कुछ बुरा हो रहा होगा और इसीलिए इसमें यह विकृति आ रही होगी। वह आशा से कहने लगी—सखी, मैं तुझे दिखाने के लिए आज एक चीज़ लाई हूँ।

यह कह कर उसने अपने अंचल से एक पत्र निकाल कर आशा के हाथ में दिया। आशा पत्र पढ़ने लगी। सुफला उसके मुख को ताकने लगी। आशा के मुख में तरह तरह के भावों के प्रतिबिम्ब पड़ने लगे।

आशा—यह पत्र किसका है ?

सुफला—तुम्हारे जीजा का।

आशा—कौन दे गया ?

सुफला—अपनी खिड़की में पड़ा पाया।

आशा—कब ?

सुफला—आज प्रातः।

आशा—नहीं, यह उनका नहीं हो सकता। इसमें तो भेजने वाले का नाम भी नहीं लिखा है। तुम वृथा उन्हें कलंक क्यों लगा रही हो ?

सुफला—चुप रह। नाम से क्या होता है ? चोर क्या किसी को अपनी निशानी देता है ? इसे पूरा पढ़ती क्यों नहीं, स्पष्ट ही तो लिखा है।

निमेष के अपमान की बातें सुन कर आशा को बहुत बुरा

लगा। वह पत्र भी न पढ़ सकी। सुफला का विस्मय आशा के हाव-भावों को देख कर और भी बढ़ता ही गया। वह उसके हाथ से पत्र लेकर इस प्रकार पढ़ने लगी :—

प्राणेश्वरि, तुम्हें आश्चर्य होगा कि तुम्हारे लिए पत्र लिख-कर मैं यहाँ क्यों छोड़ गया हूँ। किन्तु इसमें विस्मय की कोई बात नहीं। पत्र पढ़ने पर तुम्हें यह सब ज्ञात हो जावेगा।

आज मैं तुम्हारे लिए पहिले पहल पत्र लिख रहा हूँ। आज तक मैं अपने को किसी प्रकार रोकता ही था, किन्तु अब मुझे अपने हृदय के ऊपर कुछ अधिकार नहीं रह गया। मै इसकी प्रेरणा नहीं रोक सकता। हाय! मुझे जान नहीं पड़ता कि मैं तुम्हें अपनी वेदना किस प्रकार बतलाऊँ। मैंने जिस दिन तुम्हें पहिले तरलंग के तट में देखा था उसी दिन मैं तुम्हें अपना मन समर्पण कर चुका हूँ। उसी दिवस से मैं तुम्हारे प्रेम पाश में बँध चुका हूँ। उसी दिन मैं तुम्हें अपना सर्वस्व दे चुका हूँ।

तुम्हारी वह मंजुल मूर्ति मेरे मानस में सदा मरालिनी सी तैरती रहती है। तुम्हारी वह मीठी वाणी अभी तक मेरे श्रवणों में शर्करा सी घोल रही है। तुम्हारा सुखमय ध्यान सदा मेरी स्मृति में सजीव विचरता है। प्रेयसि, तुम्हारी याद मुझे चंचल कर डालती है। तुम्हारा स्मरण मुझे बेचैन कर डालता है। मेरी आँखों से नींद चली गई है। मेरी रातें सदा करवट बदलते-बदलते बीतती हैं।

प्रिये, मेरी दशा पर दया करो। मेरी दुर्बलता को क्षमा करो।

आज मैं अपने को नहीं सम्हाल सकता। अब जो हो चुका वह हो चुका। अब वह लौट नहीं सकता। मेरा मन तुम्हें देखे बिना व्याकुल हो रहा है। अब तुम मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करो। मुझे अपने हृदय में स्थान दो। अब तुम्हारे बिना मेरा हृदय सुखमय नहीं हो सकता। अब मेरी रक्षा तुम्हारे ही हाथ में है।

तुम समझोगी कि मैं विवाहित हूँ। मेरी स्त्री है और इसी-लिए मेरा संयोग तुम्हारे साथ नहीं हो सकता। मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध सुखमय नहीं हो सकता। किन्तु प्रेयसि, इसकी कुछ चिन्ता न करो। तुम मेरे हृदय की अनन्य अधिष्ठात्री होगी। इसीलिए मैंने विजया से बोलना भी छोड़ दिया है। अब मैं उसके कमरे में भी नहीं जाता हूँ। उसका दिया पान का बीड़ा भी नहीं चबाता हूँ। शायद तुम्हें यह चिन्ता हो कि मैं फिर विजया के फ़ुसलाने पर आ जाऊँगा और तुम्हें दुःख दूँगा। किन्तु प्रिये, मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैंने विजया से कह दिया है कि तू मेरे अयोग्य है। वह उस दिन से मुझसे नहीं बोलती। वह तुम्हारी दासी होकर रहेगी।

प्रियतमे, अब मुझे अपनाना तुम्हारे अधिकार में है। अब तुम्हीं मेरी जीवन-सर्वस्वा हो। मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। अब मैं तुम्हें नहीं भूल सकता। मैं तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ। मुझे प्रेम-भिक्षा दो। तुम्हारे बिना मेरे लिए संसार अन्धकारमय है। तुम मेरे जीवन को प्रकाश देने वाली नक्षत्र हो।

अब मैं इस पत्र को अधिक नहीं बढ़ाना चाहता। मुझे भय

मालूम होता है; क्योंकि मेरा तुम्हारी आज तक कोई बातें भी नहीं हुई हैं। आज तक मैं तुमसे बोलने का अवसर ढूँढ़ता ही था किन्तु आखिरकार तुम्हें पत्र ही लिखना पड़ा।—तुम्हारा—

पत्रोत्तर लिख कर यहीं रख देना।

पत्र समाप्त हो गया। आशा कुछ न बोल सकी। उसका मुख सूख गया। हृदय जोर जोर से धड़कने लगा। उसकी दृष्टि के सन्मुख अन्धकार छा गया। सुफला ने आशा की ओर देखा। वह धीरे धीरे आशा की दशा समझने लगी। उसके मन का संशय धीरे धीरे वृद्धि पाता गया।

सुफला—क्या अब भी इसमें सन्देह है कि पत्र किसने भेजा ?

आशा फिर भी कुछ न बोली। उसकी दृष्टि एकटक पत्र की ओर लगी थी। सुफला फिर बोली—

क्यों आशु, आजकल तुझे क्या हो गया है ? तू बोलती तक नहीं। मैं देखती हूँ कि तू पहिले से कृश भी हो गई है। आजकल तू मेरे यहाँ भी नहीं आती। न जाने भीतर ही भीतर सड़ के क्या सोचा करती है।

आशा यह सुन कर सकबका सी गई। वह सहसा कह उठी—नहीं मैं उन्हें प्यार नहीं करती वे मेरे कौन—

सुफला—ऐं, यह क्या कहती है ? किसे प्यार नहीं करती ?

आशा चुप रही। उसे मन ही मन अपने कहे का बड़ा पछतावा हुआ। वह सुफला से बहुत डरती थी। सुफला आशा को फिर भी निरुत्तरा देख कर अत्यन्त दुखी हुई। वह बोली—

तुझे क्या हो गया आशु ! छिः तू तो बोलती भी नहीं। मैंने तेरी ऐसी दशा पहले कभी नहीं देखी थी। न जाने तुझे आजकल कैसी बीमारी लग गई ।

आशा ने शिर नीचा कर लिया। सुफला फिर कहने लगी—मैं तो इस विषय में तुझसे परामर्श लेने आई थी। किन्तु तू बात का उत्तर भी नहीं देती। हाय ! तुझे विजया दिद्दी के ऊपर भी दया नहीं आती। परसों उसका फूट फूट कर रोना मुझे अब तक याद है। हाय ! उस विचारी के लिए कैसा अन्याय हो रहा है।

धिक्कार है ऐसे पुरुषों को जो दूसरी स्त्री पर दृष्टि रख कर अपनी गृह-लक्ष्मी को इस प्रकार यातना दिया करते हैं। धिक्कार इनके प्रेम को ! ये प्रेम के मिस उसका गला घोंटते हैं। समाज-शत्रु इन्हीं का नाम है।

आशा के हृदय में इस समय विविध विचारों की तरंगें उठ रहीं थीं। वह कभी इधर को बहती थी कभी उधर को। कभी अपने किए पर पछताती था, कभी सुफला पर क्रुद्ध होती थी, और कभी उसके भय से काँपती थी। वह निमेष की मूर्ति अपने हृदय से हटा नहीं सकती थी। उनके रूप का नशा आशा की आँखों से अभी तक नहीं उतरा था। उनकी वंशी का मादक राग अभी वह नहीं भूली थी। उसकी एक विचित्र दशा हो रही थी। वह इस समय सुफला का अन्तिम वाक्य सुन अपने को न रोक सकी और क्रोध से कहने लगी—

दूसरे पुरुष को बुरा बतलाने का तुम्हें किसने अधिकार

दिया ? वे बुरे हैं तो अपने लिए हैं। तुम्हारा क्या बिगाड़ देंगे ? बिना समझे बूझे बोलना मुझे अच्छा नहीं लगता।

सुफला—चुप रह, तुझे ऐसे अत्याचारियों का पक्ष लेने में लज्जा भी नहीं लगती। वे पर-पुरुष थे तो उन्हें मेरे लिए ऐसा पत्र लिखने का क्या अधिकार था ? इसमें किसी का बिगाड़ नहीं है तो क्या है ? अपनी स्त्री को कष्ट दे तथा उससे प्रीति हटा कर दूसरी स्त्री से प्रेम रखने वाला प्रेम का मूल्य क्या समझ सकता है ? यह प्रेम नहीं आसक्ति है, प्यार नहीं व्यभिचार है।

मैं आज तेरी दशा अच्छी प्रकार ताड़ गई हूँ। तू प्रेम को नहीं पहचानती। जिस प्रेम से हृदय में उत्कण्ठा हो, चंचलता हो, मन में व्यग्रता हो, जिस प्रेम से प्रणयी अपने प्रणयिनी के बिना नहीं रह सकता—उसे प्रेम कौन कहता है ? यह निरी आसक्ति है। और तो क्या दाम्पत्य भी यथार्थ में प्रेम नहीं है। वह वास्तविक प्रेम को बतलाने वाला एक मार्ग-मात्र है। उसमें फँस कर मनुष्य पीछे प्रेम का महत्व समझ जाता है, प्रेम को पहिचान लेता है। प्रेम किसी से आँख लड़ाना, किसी के लिए चंचल हो उठना तथा किसी के बिना व्याकुल होना नहीं है। प्रेम किसी के विरह में प्रलाप करना, किसी के लिए स्वार्थ से प्राण समर्पण करना नहीं है। प्रेम किसी के सिखलाने से नहीं आता। वह एक अमूल्य पदार्थ है, एक दुर्लभ वस्तु है। वह स्वयं पैदा हो जाता है। उसे सिखलाने वाला ईश्वर है। वह उसी की देन है। सच्चे प्रेम में दुख नहीं होता। अशान्ति नहीं रहती। व्याकुलता पास नहीं

फटकती। वियोग नहीं सताता। वास्तविक प्रेम एक अलौकिक पदार्थ है। उसे पाने के लिए निष्काम मन चाहिए, विमल बुद्धि चाहिए, इन्द्रिय-निग्रह चाहिए।

तू अपने को प्रेमिणी कहने का गर्व नहीं कर सकती। निमेष का पक्ष लेना तेरा एकमात्र स्वार्थ है। मुझे आश्चर्य होता है कि तुझे क्या हो गया है। मुझे अभी तक संशय मात्र था, किन्तु अब निश्चय हो गया है कि तू आज कल निमेष की ओर झुकी है। छि: तेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गई है। तू अपने सुख के कारण विजया को किस घोर आपत्ति में डाल रही है! उसके शिर में कैसी भारी बला डाल रही है! तुझे विजया के ऊपर लेशमात्र भी दया नहीं आती।

"तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।"

परसों मैंने तेरे सामने भविष्य दशा के विषय में एक दो बातें की थीं, तू तब चिढ़ने लगी थी। मैंने वह तेरा अनुराग का कुढ़ना समझा था, पर मैं आज यथार्थ को समझ गई हूँ।

सुफला इतना बक गई किन्तु आशा के हृदय में कुछ चेत नहीं हुआ। वह इन बातों को नहीं समझ सकी। सच है, काम मनुष्य को अन्धा कर देता है। कामान्ध को उचित अनुचित का विचार नहीं रहता, सत असत का ज्ञान नहीं रहता। उसकी दशा नशा चढ़ाए मनुष्य की सी हो जाती है। जब तक नशा नहीं उतरता तब तक वह अपने को नहीं पहचानता। आशा की भी यही दशा

हो रही थी। उसने निमेष के रूप की गहरी छान रक्खी थी। उसे निमेष के दोष बुरे नहीं लगे, उलटे अच्छे ही प्रतीत होने लगे। उसने फिर भी सुफला की बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। वह—"माथा घूम रहा है"—कहती पलंग में जाकर सो गई।

सुफला को आशा का यह व्यवहार देख बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु वह उस पर क्रुद्ध नहीं हुई। उसे आशा पर दया आई। वह इस समय आशा से अधिक कहना उचित न समझ वहाँ से चली गई।

"आवत ही हर्षै नहीं नयनन जाके सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए कंचन वर्षै मेह॥"

सुफला के चले जाने पर आशा की घबड़ाहट कुछ कम हुई। वह अपने तथा सुफला के बीच समस्त बातों की आलोचना करने लगी। आशा को अपने जीवन के ऊपर घृणा होने लगी। वह कहने लगी—हाय! जिसे मैं इतना प्यार करती हूँ, जिसको मिलने के लिए मैं आठों पहर व्यग्र रहती हूँ, जिसे पाने के लिए मैं इतने प्रयत्न सोचती हूँ, जिसे मैं अपने प्राण समर्पण कर चुकी हूँ, जिसे मैं वर चुकी हूँ—वह मुझे प्यार नहीं करता, वह मुझे नहीं चाहता!

हाय! मैंने उनके लिए भविष्य को छोड़ा। अपनी बाल सहचरी सुफला से झगड़ा किया, अपनी लज्जा को तिलांजलि दी, सती-धर्म का ध्यान न रक्खा, किन्तु अन्त में आज मालूम हुआ कि वे मुझे प्यार न कर किसी अन्य को प्यार करते हैं, किसी अन्य को चाहते हैं।

हा दुर्दैव ! आज मुझे अच्छी तरह सोए पूरा महिना भर हो गया। मेरी भूख प्यास चली गई है। रात दिन उन्हीं के नाम की माला जपती हूँ। ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि मैं उनके चरणों की दासी होऊँ। पर आज देखती हूँ कि मेरी सब आशाएं व्यर्थ हैं। मेरी सब प्रार्थनाएं निष्फल हुई। हाय ! मुझ जैसी अभागिनी और कौन है ? आज आशा निराशा है ! अराह्‌या है। हाय ! तब क्या सुफला सत्य कहती थी कि मैं प्रेम को नहीं पहचानती ? तो क्या मैं उन्हें यथार्थ में प्यार नहीं करती ? उन्हें नहीं चाहती ? हाय ! सचमुच, मैं उन्हें प्यार नहीं करती, उन्हें नहीं चाहती। यदि मैं प्रेम को पहिचानती तो मैं भविष्य को क्यों भूलती ? मैं क्यों कहती कि भविष्य में क्या रूप गुण है ? हाय ! हाय ! मैं क्या सत्य को सचमुच भूली हूँ ?

नहीं, ऐसा क्यों होगा ? मैं उन्हें अवश्य चाहती हूँ। मैंने भविष्य तथा उन्हें मिलाया; उन्हें अच्छा देखा, इसी लिए अपना लिया। सबसे अच्छी वस्तु तो सभी छाँटते हैं, इसमें क्या पाप ? ऐसा तो नित्य हुआ करता है। नहीं तो दुकानों में तरह तरह के पदार्थों को रखने का क्या अभिप्राय था ? सभी तो सर्वोत्तम वस्तु मोल लेते हैं। तो क्या प्रेम भी एक व्यापार है ?

आशा को यह सोचते सोचते नींद आ गई। वह तरह तरह के स्वप्न देखने लगी।

आशे, उठो, यह तुम्हारी कैसी नींद है ? यह स्वप्न छोड़ो।

सप्तम पुष्प

हार

आज आशा को देखे एक मास हो गया है। उसने अब तरलंग के तट में आना भी छोड़ दिया है। आज कल सुफला भी नहीं आती। हाय! आशा बीमार तो नहीं हो गई? अथवा क्या वह मुझे भूल गई है? क्या वह नहीं जानती कि मैं उसके बिना इतना व्याकुल हो रहा हूँ! क्या वह मेरे प्रेम से अनभिज्ञ है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आशा मुझे नहीं भूल सकती। यदि पद्मिनी सूर्य को भूल जाय, चकोरी चन्द्र को भूल जाय, चातकी स्वाति-जल को भूल जाय, और पतंगिनी दीप-प्रभा को भूल जाय, तो भी आशा मुझे नहीं भूल सकती।

"वरु मराल मानस तजै, चन्द्र शीत, रवि घाम" तो भी आशा मुझे नहीं छोड़ सकती। मैंने तथा उसने बालकाल ही से एक साथ खेला है! वह मुझे प्यार करती आई है, मैं उसे। वह मुझे वर चुकी है, मैं उसे—तब मुझे वह क्योंकर भूल सकती है? बाल-काल की पवित्र स्मृति अक्षय होती है, तो क्या आशा सचमुच बीमार ही है। क्या उसे किसी रोग ने घेर लिया है? हाय! वह मेरे लिए पलंग पर पड़ी पड़ी अकुलाती होगी। ईश्वर से यही प्रार्थना करती होगी कि एक बार उनसे भेंट हो जाय, एक बार उनका मुख देख

लूँ ! किन्तु मुझे यहाँ इसकी कुछ भी खबर नहीं है। मैं निठुर हो यहाँ बैठा हूँ। एक बार उससे पूछने को भी नहीं गया कि तेरा स्वास्थ्य कैसा है ! हाय ! मैं बड़ा कठोर हूँ !

पर मैं वहाँ जाऊँ कैसे ? जब सुफला सुनेगी तो वह मुझसे क्या कहेगी ? वह मन ही मन हँसेगी कि भविष्य दद्दा इतने निर्लज्ज हैं। मैं आज कई वर्षों से वहाँ गया भी नहीं, आज अचानक किस बहाने से जाऊं ? किसी ने मुझसे कहा भी तो नहीं कि आशा बीमार है। तो मैं कैसे चला जाऊँ ? नहीं मैं वहाँ नहीं जा सकता। आज मंगल भी है !

हाय ! विरह दिन पर दिन मन को भस्म कर रहा है। आशा के बिना दिवस कल्प सा लगता है। प्रेम प्रति-दिन प्रबल होता जाता है। अब आशा को देखे बिना सुख दुर्लभ है। अब यह वियोग नहीं सहा जाता। हाय ! यदि आशा चाहती तो आज तक उसका व मेरा विवाह हो जाता। वह अपने भाई को एक पत्र भी लिख देती तो वे यहाँ आकर विवाह कर जाते। किन्तु वह भी ऐसा कैसे कर सकती है ? वह कैसे लिख सकती है कि मेरा विवाह कर दो ? उसकी भाभी भी तो काली-स्वरूपा है। उसने आशा के भाई को अपने पंजे में कैसा फँसा रक्खा है। नहीं तो वे क्या आशा को यहाँ छोड़ जाते ? उन्हें क्या मालूम नहीं है कि अब आशा बड़ी हो गई है, अब उसका पाणिग्रहण कर देना चाहिए।

हाय ! परमेश्वर ने मुझसा अभागी और कोई नहीं बनाया। मुझसा दुःखी और किसी को नहीं किया। हा ! भगवन् ! मेरे

ऊपर दया करो ! मेरे अपराध क्षमा करो ! तुम्हारा गुण क्षमा करना ही है। तुम सब को क्षमा करते हो। हे शक्तिमन् मुझे भी क्षमा करो। मुझे और न सताओ। तुम सब की इच्छा पूर्ण करते हो, मेरी आकांक्षा भी पूरी करो। हे नाथ ! अपने दुःख और किसे सुनाऊँ ? तुमने मुझे इतनी बड़ी जमीदारी दी। यदि मैं आशा को न पाऊँगा तो यह सब किस काम की होगी ? मुझे इससे क्या सुख होगा ?

भविष्य तरलंग के तट में बैठे इसी प्रकार विचार-मग्न थे। उनकी बाँईं आँख फड़कने लगी। उनका संशय और भी बढ़ गया। वे आशा से मिलने के लिए और भी लालायित हो उठे। उसका कुशल-समाचार जानने के लिए और भी व्यग्र हो उठे। इतने ही में उनके कानों में किसी के आने की ध्वनि पड़ी। उन्होंने पीछे को फिर के देखा तो सुफला। भविष्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद देने लगे।

भविष्य—क्यों सुफला, अच्छी तो हो ? आज तुम बहुत दिनों में आईं।

सुफला—हाँ, दद्दा अच्छी हूँ। क्या कहूँ कई बार तुमसे भेंट करने की इच्छा हुई थी किन्तु अनेक कारणों से न आ सकी।

भविष्य—आज तुम अकेली ही क्यों आई ? तुम्हारी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है ?

सुफला—हाँ, दद्दा मेरी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है किन्तु—

भविष्य—किन्तु क्या, सुफला ? तुम रुक क्यों गई ?

सुफला—दद्दा क्या कहूँ ? कहती हूँ तो तुम्हें दुख होगा और अगर न कहूँ तो वह भी तुम्हारे लिए बुरा ही है। हाय ! न जाने आशा के भाग्य में क्या बदा है !

सुफला ने धीरे धीरे भविष्य से आशा की सब बातें कह दीं। किन्तु सुफला ने उन्हें निमेष का पत्र न दिखलाया। उसने विजया के भय से यह बात गुप्त ही रक्खी।

भविष्य की इस समय जो दशा हुई, वह अवर्णनीय है। मणि के खोए जाने पर फणिनी की जो दशा होती है, चन्द्र में बादल लग जाने से चकोर की जो दशा होती है, सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल की जो दशा होती है, भविष्य की भी वही दशा हुई ! पहिले तो उन्हें सुफला की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। किन्तु वे सोचने लगे कि सुफला आज ऐसा परिहास क्यों करेगी। सुफला ने उनसे जिस कातर स्वर में आशा की दशा वर्णन की थी उससे उनका सन्देह और भी मिट गया। भविष्य सोचने लगे—मेरा सुख का सूर्य अस्त हो गया। मेरा भाग्य-चक्र फिर गया। अब मेरे लिए संसार में सुख नहीं रहा। अब मेरे जीवन में आनन्द नहीं रहा। हाय ! भगवान ने मेरे भाग्य में यही लिखा होगा ! मुझे पिता माता से रहित तो कर ही दिया था, आज मुझे आशा से भी हीन किया। अब मेरा निराश जीवन किस काम का ? अब मेरा जीवित रहना न रहना बराबर है। जिस जीवन में मुझे सुख नहीं रहा, जिस जीवन में कोई संगी नहीं रहा, जिसमें कोई अपना कहने वाला नहीं रहा—उस जीवन से क्या लाभ ?

हाय ! यदि ऐसा जानता तो आशा को क्यों प्यार करता ? उसे अपना तन मन समर्पण क्यों करता ? उसके ऊपर अपने सब सुख न्यौछावर क्यों करता ? मैं व्यर्थ मृगतृष्णा में भटका। मेरे भाग्य में ऐसा सुख कहाँ था ? ठीक कहा है "भाग्यं फलति सर्वत्र।" विधि को जो स्वीकार होता है, वही करता है। वह किसी के सुख दु:ख नहीं जानता, किसी के रोने से नहीं पिघलता। उसका लेख नहीं टल सकता।

"वह कब टलता है भाग्य में जो लिखा है ?"

उसके नियम कठोर हैं। वह स्वयं निठुर है। अपने कर्मों का फल सब को भोगना पड़ता है। मैंने बामन होकर चाँद को पकड़ने की इच्छा की, पर मेरे ऐसे पुण्य कहाँ कि वह मुझे मिलता ?

"पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वांछा
पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः।"

संसार एक कंटकमय उद्यान है। यहाँ मनुष्य चारों ओर दु:ख के कंटकों से घिरा रहता है। यहाँ सुख की आशा करना निराशामात्र है। यह एक तप्त मरुस्थल है। यहाँ मनुष्य व्यर्थ मृग की तरह भटकता है। व्यर्थ माया की मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ता है।

मृग मरीचिका है यह केवल यहाँ स्वेद ही बहता है।
यहाँ हृदय है नहीं पिघलता कल कल छल छल टल टल में।

हाय ! मैंने व्यर्थ अपने को आपत्ति में डाला। व्यर्थ अपने को आशा के प्रेम-पाश में बाँधा। व्यर्थ उसे पाने के लिए लालायित रहा। व्यर्थ उसके वियोग से दुखी हो अपने स्वास्थ्य का संहार किया। मैं जानता था कि मनुष्य से कभी अचल प्रीति नहीं रह सकती। एक न एक दिन अवश्य टूटती है। मैंने नागिन को हार समझ अपना कण्ठ-भूषण बनाना चाहा ! किन्तु मनुष्य कब चुप रहता है ? वह जान-बूझ कर अपने को फँसाता है। यह उसकी अल्पता है। मनुष्य कुछ सोचता है, ईश्वर कुछ करता है। मैं अभी आशा के लिए उतना चिन्तित हो रहा था, उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। उससे मिलने के लिए अकुला रहा था; सोचता था कि आशा बीमार होगी इसीलिए यहाँ नहीं आती होगी, वह मुझे देखने के लिए व्याकुल हो रही होगी——किन्तु हाय ! मुझे याद करना तो एक ओर रहा, मेरे बिना व्याकुल होना तो एक तरफ़ रहा, वह मुझे भूल गई है। मुझे अपने हृदय से हटा चुकी है। मेरे इस अपरिमित प्रेम का तिरस्कार कर उसे अपने हृदय से उठा चुकी है। हाय ! हाय !

इस मानवी प्रेम की क्या आशा ? इससे क्या सुख मिल सकता है ? इसमें क्या बल हो सकता है ? मैंने बुरा किया जो आशा को अपना सब कुछ दे दिया, उसके चरणों में अपना तन-मन सब कुछ अर्पण कर दिया, उसे अपने हृदय की आराध्या बनाया, उसे अपने प्रेम की अधिष्ठात्री बनाया। जब तक मैंने आशा को अपना हृदय नहीं दिया था, तब तक मैं कितना सुखी था, कितना निश्चिन्त

था। मैं सबको समदृष्टि से देखता था, सब को प्यार करता था, किसी विशेष के लिए व्याकुल न रहता था, उसके सामने औरों को तुच्छ नहीं समझता था। किन्तु हाय इसे कौन जानता था कि पीछे मुझे ऐसा दिवस देखना पड़ेगा, मुझे इतना दुःख भोगना पड़ेगा, इतना पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

ख़ैर, अब मुझे इसका अनुभव हो गया है। अब मैं सँभल कर रहूँगा। इस अधम श्रेणी का प्रेम किसी से न करूँगा। इस प्रकार अपने को किसी के हाथों का खिलौना न बना दूँगा। हाय! हाय! मैं अब तक इसी को प्रेम समझ कर बैठा था, घोर भ्रम में फँसा था। हे भगवन्, मुझे जाग्रत करो, मुझे नवीन बल दो।

भविष्य के मुख में सहसा यह विकृति देख सुफला को अत्यन्त दुःख हुआ। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! दद्दा के मन में गहरी चोट लग गई है। उसे कुछ सूझ नहीं सका कि इस समय भविष्य को क्या कह कर धैर्य देना चाहिए। सुफला ऐसा सोच ही रही थी कि सहसा किसी के गान के स्वर से सारा आराम गूँज उठा।

सूर्य को डूबे कुछ देर हो चुकी थी। भविष्य की यह दशा देख कर प्रकृति में भी शोक की कुछ कुछ कालिमा छा गई थी।

दिवानाथ का विपुल-विभव सब उसकी आहों से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में अग्नि-ज्वाल बन एक कराल।

कमल-दल सकुचा गया था। पुजारी जी का लड़का मन्दिर के द्वार पर बैठा गा रहा था—

अह, नियति तव गति भयावनि।
विकच पद्म-प्रभा दिवस की दिवस ढलते सब क्षणिक बनि।
पावसोत्स समान सुख सब शमन-सदन सिधारता हा!
भव विभव भव भय पराभव दुःख सुख मय देवि! ज्यो मणि।

सुफला मन ही मन कहने लगी—अहा! दद्दा के दुख से दुखी होकर श्री देवी जी इस बालक के कण्ठ में बैठ कर यह गीत गा रही हैं।

सुफला—दद्दा, अब अँधेरा हो गया है। घर को जाओ। मैं भी जाती हूँ। आशा के लिए दुखी न होओ। श्री दुर्गादेवी जी करेंगी तो उसकी निद्रा शीघ्र टूट जावेगी।

भविष्य—तुम जाओ, सुफला! तुम अकेली ही हो। मैं कुछ देर में जाऊँगा। मैं इस समय सदा यहीं बैठा रहता हूँ।

सुफला भविष्य के दुख से चिन्तिता होती गृह को चली गई। भविष्य अकेले ही रह गए। वे अपने जीवन की बीती घटनाओं को एक एक कर याद करने लगे। उन्हें अपनी बाल्यावस्था की याद आई। उन्हें अपनी तथा आशा की बाल-क्रीड़ा का स्मरण हो आया! भविष्य कहने लगे—अहा! तब मेरा जीवन कितना सुखमय था। मैं तब भी आशा को प्यार करता था। किन्तु तब मैं उसके लिए इतना उत्कण्ठित न रहता था, उसके न मिलने से इतना दुःखी न होता था, उसी के ध्यान में न रहता था। उसे पाने के लिए इतना लालायित न रहता था। आशा एक बार अपने भाई के साथ चली गई थी, मुझे कुछ कष्ट न हुआ था।

अहा ! तब मैं मिट्टी के छोटे छोटे मन्दिर बना कर देवताओं की पूजा करता था। तब मेरी ईश्वर के लिए एक विचित्र धारणा थी। अब वे विचार न मालूम क्यों लुप्त हो गए। यदि मैं अब भी उसी प्रकार खेला करता, उसी प्रकार पेड़ों की छाया में बैठ विचित्र बातें सोचा करता, बात बात पर आश्चर्य प्रकटाता, एक छोटी सी बात पर भी हँसते रहता तो सचमुच आज से सुखी होता। मेरी यह दशा न होती। बालकाल ही मनुष्य का वास्तविक शिक्षक है। तब मनुष्य में अवश्य दैवीय-अंश रहता है, उसका चित्त निर्मल होता है, विचार सरल रहते हैं, मन में किसी के लिए राग-द्वेष नहीं रहता। एक छोटे से खिलौने से भी मन रीझ जाता है; तब जीव का विश्व ही न्यारा होता है। वह तब निष्काम कर्मयोगी होता है।

किन्तु अब यह सब सोचने से क्या लाभ ? अब मेरा छीना बालापन फिर मुझे मिल थोड़ी सकता है। पर यदि मैं इच्छा करूँ तो क्या मैं वैसा ही सरल-चित्त नहीं बन सकता ? अब तो मुझे बहुत कुछ अनुभव भी हो गया है। मैं भले बुरे को पहचाने लग गया हूँ। अब तो मैं और भी उन्नति कर सकता हूँ। मनुष्य जैसा जैसा बड़ा होता है वैसा वैसा उन्नति करने का अधिकारी होता जाता है। उसके विचार भले बुरे के सम्पर्क से परिपक्व होते जाते हैं। यदि अब मेरा शरीर बालकों का सा नहीं हो सकता तो मेरा हृदय अवश्य एक परिष्कृत बालक हो सकता है। बालकों का हृदय थोड़े से भय दिखलाने में डर जाता है, उनकी प्रकृति चंचल होती है, बुद्धि अस्थिर होती है, वे अपने को प्रलोभनों में पड़ने से

रोक नहीं सकते हैं। वे अपने किसी बात में दृढ़ नहीं रह सकते हैं। उनकी स्मरण शक्ति इतनी उन्नत नहीं होती है। वे गूढ़ बातों को नहीं समझ सकते हैं। किन्तु अब तो मुझे इन बातों का कुछ कुछ ज्ञान हो गया है। मैं संसार से थोड़ा बहुत परिचित हो गया हूँ। अत: अब मैं अपने मन को अवश्य परिष्कृत बालक बना सकता हूँ।

किन्तु हाय! मैं आशा को इतनी जल्दी कैसे भूल जाऊँ? उसकी वह छवि हटाने पर भी मेरे हृदय-पट से नहीं हटती। उसका अनुराग मन में पूरा रंग जमा चुका है। अब मैं उसे छोड़ कर कैसे रह सकता हूँ? इस अवस्था में अपने हृदय को कैसे स्थिर रख सकता हूँ? नहीं, मैं आशा को नहीं छोड़ सकता! उसके बिना मुझे कहीं सुख नहीं मिल सकता। उसके बिना मेरा जीवन भार है। जिसको आज तक मैं अपना सर्वस्व समझता आया हूँ, जिसको मैंने अपना सब कुछ समर्पण कर दिया है, जिसको मैं अपने हृदय-मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी बना चुका हूँ, जिससे मैं भावी में अनेक सुखों की आशा करता आया हूँ—उसे अपने हृदय से बाहर निकाल कर, अपने ध्यान से हटा कर मैं कैसे रह सकता हूँ? उसे भूल कर मैं उसका अनुराग कैसे मिटा सकता हूँ।

पर हाय! वह तो मुझे नहीं चाहती, मुझे नहीं अपनाती, वह तो मेरा प्रेम भूल कर किसी अन्य को प्यार करती है। मैं यह कैसे सह सकता हूँ? यह सब कैसे सुन सकता हूँ?

हाय! हाय! यह मेरी क्या दशा हो गई है? मुझे क्या हो गया है? मैं अपने को सँभाल नहीं सकता हूँ। हा! नाथ, यह कैसी

परीक्षा ले रहे हो। यह मेरे किन पापों का फल है; यह मैं किन कुकर्मों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ? प्रभो! मुझे क्षमा करो। मुझे नव-बल दो। नवीन स्फूर्ति दो, उत्साह दो। मुझे कष्ट सहने की शक्ति दो। मुझे आशा के कर-कमल में असहाय तुषार-बिन्दु सा न ढुलकने दो। जिधर को वह हिले, उधर ही को न लुड़कने दो। मुझे अपने को संवरण करने की सामर्थ्य दो।

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

नाथ! मुझे शक्ति दो! अपने मन के ऊपर अधिकार दो! मुझे वह बाल्यावस्था का सा निष्काम मन फिर दो। मुझमें वे सरल विचार फिर भर दो।

भविष्य को सोचते सोचते रात हो गई। उसके कान में सहसा देवी-फाटक को बन्द करने की आवाज पड़ी। उसका ध्यान भंग हो गया। भविष्य ने आकाश की ओर देखा। अगणित तारक-राशि निकल चुकी थी। कलाधर मन्द मन्द हँस रहे थे, किन्तु भविष्य को वह हास अत्यन्त दुःखद प्रतीत हुआ।

"कहा जानि ये कहत हैं शशिहिं शीतकर नाम।"

भविष्य घर को चला गया।

हा! भविष्य, पारिजात का हार पराजित हो आज हार बन कर तुम्हारे गले पड़ा!

अष्टम पुष्प

स्वप्न-भंग

आज अमावस्या है। अर्धरात्रि का समय है। संसार नीरव हो रहा है। पेड़ों के पत्ते भी मौन धारण कर ज्यों के त्यों पड़े हैं। आकाश में तारे चमचमा रहे हैं। कलानिधि के विना नभ शोभा-हीन सा जान पड़ता है। सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ है।

निमेष अपने कमरे में अर्धनिद्रावस्था में स्वप्न देख रहे हैं। एक ऊँचा पर्वत है। उसमें चढ़ने के लिए राह नहीं है। चोटी में एक सुवर्ण सुमन खिल रहा है। निमेष उसे तोड़ने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। इस समय क्या करें, उस फूल को कैसे तोड़ें। कुछ कर्त्तव्य नहीं सूझता है। निमेष खड़े खड़े एकटक उसी फूल की ओर देख रहे हैं। इतने में मन्द मन्द पवन बहने लगी। उस सुमन की सुरभि चारों ओर प्रसारित होने लगी। निमेष उसकी सौरभ को सूँघ कर और भी लालायित हो उठे।

सहसा बाहर से शब्द आया। घुग्घू! घुग्घू! निमेष चौंक कर उठ बैठे। फिर शब्द हुआ घुग्घू!

निमेष कहने लगा—अहा! वह सुमन सुफला के मुख सा मंजुल था। किन्तु हाय! मैं उसे न तोड़ सका। क्या अब मैं अपनी प्यारी को भी न पा सकूँगा? एक तो बुरा स्वप्न! द्वितीय उठते

ही घुघ्घू का शब्द ! बड़ा अपसगुन हुआ। आज पत्रोत्तर की प्रतीक्षा करते पूरे सात दिन हो गए हैं, किन्तु अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला। यदि वह मुझे प्यार करती तो क्या मेरी चिट्ठी का उत्तर तक नहीं देती ?

हाय ! किसी ने ठीक कह रक्खा है—"कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः।" मैं उसे इतना प्यार करता हूँ, उसे अपना सब कुछ दे चुका हूँ, उसके विरह में सूख कर काँटा हो गया हूँ। अपनी स्त्री को तक त्याग चुका हूँ। किन्तु हाय ! वह मुझे प्यार नहीं करती। मेरी प्रार्थना तक स्वीकार नहीं करती। मेरी वेदना प्रतिदिन वृद्धि पाती जाती है। हृदय चंचल होता जाता है। उसे पाने की इच्छा प्रबल होती जाती है। किन्तु हाय ! वह मुझे नहीं मिलती। क्या वह मेरी दशा से अपरिचित है ? क्या वह मेरी व्याकुलता को नहीं जानती ?

प्रेम, एक बार अपनी तन्त्री मेरी प्यारी के कानों के पास बजा कर उसे मेरी दशा का परिचय दे आओ। एक बार अपने अपूर्व बल से मेरी व्याकुलता की मूर्ति उसके सामने अंकित कर आओ। प्रेम, तुम एक अद्भुत चित्रकार हो, एक बार मेरे अनुराग के राग में मेरी विरह-व्यथा का चित्र मेरी प्यारी के दृष्टि-सन्मुख चित्रित कर आओ। जाओ, बन्धु, अपने बाल सहचर वसन्त को साथ लेकर मेरी प्रियतमा के हृदय में रति की रुचिर कलिका विकसित कर आओ। वह अभी अज्ञान है। उसके अंचल को यौवन के पराग से परिपूर्ण कर आओ। एक बार अपना सुरभित कलेवर उसके पास ले जाकर

सका। उसने एक बार अपनी प्रिया का मुख फिर चूम लिया। वह मन ही मन कहने लगा—अहा! इस समय मुझसा सुखी और कौन है? मुझसा भाग्यवान और कौन है? "मधुर मधु वधूनां भाग्यवंतः पिबन्ति।" अहा! संसार में स्त्री ही सुखों की सार है। उसके बिना सब वृथा है।

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्॥"

स्त्री के बिना संसार एक अँधेरा कूप सा है। स्त्री ही अलंकारों में सर्वोत्तमालंकार है। इसके बिना कविता भी रसीली नहीं होती। यह मधुरता की एक मृदुल स्रोतस्विनी है। सौन्दर्य की एक अपूर्व खान है। इसके मुख को देखने मात्र से ही सौन्दर्य के सुन्दर मुक्ता झड़ते हैं। प्रणय की सागर है। इसके हृदय में अपार प्रेम अंतर्हित रहता है।

"अबला तुही है सबला, रस राग की है तबला।
तमपूर्ण मम हृदय को करती है क्षण में धवला॥"

स्त्री ही शृंगार की अधिष्ठात्री है। कामनाओं की कल्प-लता है। वह मनुष्य को मरते मरते बचाती है। गिरते गिरते उठाती है। जलते जलते शीतल करती है। यह—

"..................... कन्दर्पबाणानलै-
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्म्मितम्॥"

इसे कवियों ने सर्वौषधियों की खान बतलाया है। स्वयं कविकुल कलाधर कह गए हैं—

"क्व भ्रातश्चलितोसि वैद्यक गृहं किं तत्र शान्तोरुजां।
किन्ते नास्ति गृहे सखे प्रियतमा सर्वाङ्गवान्हन्ति या।
वातश्चेत्कुचकुम्भमर्दनवशात्पित्तं न वक्त्रामृता-
च्छ्लेष्माणं विनिहन्ति हन्ति सुरतव्यापारकेलिश्रमात्।"

स्त्री संसार के अन्धकार में एक आलोक है। काले बादलों में स्थिर चंचला सी है। पावक में पवित्रता सी है। रूप की मंजरी है, छवि की पुंज है।

निमेष न जाने एक ही क्षण में क्या क्या सोच गए। वे अपना सब दुःख भूल गए। उन्हें यह ध्यान भी नहीं रहा कि वह किसे आलिंगन किए हैं, किसे हृदय से लगाए हैं? उन्होंने अपना बाहु-पाश और भी दृढ़ कर लिया। उन्हें याद आया ——

"अदर्शने दर्शनमात्र कामा
दृष्ट्वा परिष्वंग रसैकलोलाः।
आलिंगितायां पुनरायताक्ष्या-
माशास्महे विग्रहयोरभेदम्॥"

विजया प्रयत्न करने पर भी अपने को न छुड़ा सकी। वह लज्जा के मारे मर रही थी। निमेष उससे कहने लगे: हा प्रेयसि, आज तुमने बड़े दिनों में सुधि ली। मुझे तुम्हारे बिना रात भर नींद नहीं आती थी। तुम्हारे बिना सुख दुर्लभ हो गया था। प्रिये, इसीलिए मैंने तुम्हें पत्र लिखा था। तुम्हें अपनी व्यथा सुनाई थी। किन्तु तुमने आज तक मुझे उत्तर भी नहीं दिया। मैं निराशा के सागर में डूब रहा था। तुमने सहसा आज मेरी सुधि ली।

विजया अधिक न सुन सकी। उसका हृदय दुःख तथा भय से काँप उठा। वह अपने को बलपूर्वक छुड़ा कर एक ओर खड़ी हो गई। वह कुछ काल तक कुछ भी न बोल सकी। कहाँ वह सास का संवाद सुनाने आई थी, कहाँ निमेष की यह प्रमत्तता देख कर वह अवाक् रह गई। जब उसे कुछ साहस हुआ तो वह नम्र स्वर में बोली——

हाय! आपकी चाची जी वहाँ मृत्यु-शय्या में पड़ी हैं, आप न जाने यहाँ क्या बक रहे हैं! वे आपको इस समय बुला रही हैं; एक बार मरने से पहिले मेरा मुख देख जा, कहती हैं। उन्हें इस समय बड़ी बेचैनी हो रही है। उन्हें एक बार देख आइए। निमेष ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्हें विजया के ऊपर अत्यन्त रोष आया। वे अपना सारा प्रलापना भूल गए। वे ग्लानि तथा क्रोध से मन ही मन जलने लगे। उन्होंने न जाने सुफला को मन ही मन कितनी गालियाँ दे दीं। हाय! जो स्त्री अभी सर्व-सुखों की खान थी वही इस समय निमेष को पिशाचिनी सी प्रतीत हुई।

निमेष को निरुत्तर देख कर विजया फिर बोली——अब इस समय यह सब भूल जाइए। उनकी अवस्था बहुत बुरी हो गई है। ज्वर एक सौ छः डिगरी चढ़ गया है। स्वास फूल रहा है। आप उनके पास एक माँह से नहीं गए। वे आपके लिए भी चिन्तिता हो रही हैं। हर समय आप ही का नाम लेती हैं। अब अन्तिम समय उनकी आज्ञा मान लीजिए। मुझे इस समय उन्होंने भेजा है।

निमेष के रोष का पारा इतने समय में बहुत चढ़ चुका था।

वे प्रथम ही बिना पूछे कमरे में आने के कारण विजया के ऊपर क्रुद्ध हो रहे थे। इस समय उसका यह उपदेश सुन कर अपमान से और भी जल गए। उन्होंने उत्तर में उसे जोर से एक लात मारी। विजया यह कठोर पदाघात नहीं सह सकी। और वात-हत-लता की तरह पृथ्वी में गिर पड़ी। उसका शिर स्टूल से आ लगा। उसके माथे में बड़ी चोट आ गई। विजया कुछ समय तक उसी अवस्था में पड़ी रोने लगी। उसे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। जब उसकी पीड़ा कुछ कम हो गई तो वह धीरे धीरे उठ कर बैठ गई। और रोती हुई बोली—

दासी का अपराध क्षमा करें। आपके पद इसके पूज्य हैं। आज इसका बड़ा सौभाग्य हुआ जो इसने इन्हें छूआ। आपने यह इसकी पूजा की। किन्तु आप इसका इतना अनुरोध अवश्य मान लें। एक बार चाची जी को चल कर अवश्य देख आएं। उनका बचना अब कठिन है।

विजया आगे कुछ न कह सकी। अंचल में मुख छिपा कर रोने लगी।

निर्मल कर्कश-स्वर में बोले—कमरे से बाहर चली जाओ। मैंने तुमसे कभी कह दिया था कि मेरे पास मत आओ। मैं तुम्हारा कोई नहीं हूं। तुम मेरी स्त्री नहीं हो। जाओ, चली जाओ।

विजया—आप इसका फैसला करने वाले कोई नहीं हैं कि मैं आपकी स्त्री हूं अथवा नहीं। मैं आपकी आज्ञा उल्लंघन कर यहां अपने लिए नहीं आई। आपकी ही चाची जी की आज्ञा से आई

हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो एक बार मेरी विनय मान लें तथा उनके पास चलें।

निमेष—मैंने कह दिया है कमरे से बाहर चली जाओ। नहीं तो अच्छा नहीं होगा। चाची का बहाना लेकर मुझे ठगने आई हो। इस आधी रात के समय मुझे सोने दो।

विजया आगे कुछ न कह सकी। वह दृग पोछती सीढ़ियों से धीरे धीरे उतर कर अपनी सास के कमरे में चली आई। उसकी सास शय्या पर सोई कराह रही थी। उनका दम रुक रहा था। उन्होंने विजया को आती देख कर कुछ पानी पिलाने के लिए संकेत किया। विजया ने काँच का गिलास उठा कर धीरे धीरे अपनी सास के गले में दो तीन घूँट पानी डाला।

वह अपनी सास की यह दशा देख कर रोने लगी। विजया आज एक मास से बराबर उनकी सेवा करती थी। सारी रात जागरण कर बिताती थी। उसका शरीर सूख गया था। मुख कान्तिहीन हो गया था। एक तो बिचारी अपने ही भाग्य से दुःखी थी, तिस पर भी आज कल सास की सुश्रूषा करनी पड़ती थी। किन्तु विजया अपनी सास की सेवा करने से कभी जी नहीं चुराती थी। उनका काम करने में कभी आलस नहीं करती थी। वह हर समय उन्हीं के पास बैठी रहती थी। उसकी सास भी कभी कभी पुरस्कार-स्वरूप गालियों से उसकी अच्छी पूजा करती थी। जब विजया उन्हें कुनीन पिलाती थी तो उसकी सास कहती थी कि पापिष्ठा ने मुझे विष पिला दिया है। दुष्टा मेरी मृत्यु को ठहरी

है। विजया चुपचाप यह सब सह लेती थी। उसे इन बातों से कुछ भी कष्ट न होता था। वह रात दिन यही प्रार्थना करती थी कि किसी प्रकार मेरी सास स्वस्थ हो जाय। जब उसकी सास ने निमेष को आता नहीं देखा तो वे धीरे धीरे बोलीं—

मेरा लाल कहाँ है? क्या नहीं बुला लाई मेरे निमेष को, जा उसे बुला ला। मुझे एक बार उसका मुख देखने दे। अब मैं मरती हूँ। कहाँ है मेरा लाल!

विजया अपनी सास के मुख से ऐसे बचन सुन कर और भी दुःखी हुई। उसे भी विश्वास हो गया कि इनका अन्तकाल निकट है। उसकी सास फिर कहने लगी—उठ, उसे बुला ला। मैं उसी को ठहरी हूँ। मेरा लाल! मैं उसका मुख देख लूँ।

विजया इस समय क्या उत्तर देती? अपने स्वामी की दशा कैसे कहती। वह कुछ काल तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ा सी वहीं बैठी रही। तदनन्तर साहस करके फिर एक बार निमेष के कमरे में जाने को उद्यत हुई। और उठ कर उनके द्वार तक गई। किन्तु उसे भीतर जाने का साहस नहीं हुआ। भीतर आलोक हो रहा था। निमेष ने प्रदीप जला लिया था। विजया ने द्वार से झाँक कर देखा कि निमेष सोए सोए करवटें ले रहे हैं। उसने एक बार साहस कर कहा—

आपको वे बार बार बुला रही हैं। यदि आप इस समय उन्हें देखने न जावेंगे तो उन्हें अत्यन्त कष्ट होगा। आप कल तक उन्हें न पावेंगे।

विजया यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। किन्तु कुछ उत्तर न मिला। विजया अपने भाग्य के लिए फूट फूट कर रोने लगी। जब उसके दुःख का वेग कुछ कम हुआ तो वह एक बार कातर स्वर में फिर बोली—

मैं उनसे क्या कह दूँ ?

निमेष ने कर्कश स्वर में उत्तर दिया—कह दो कि बुखार आ रहा है।

विजया आँसू टपकाती चली गई। उसकी सास ने उसकी ओर एक स्थिर दृष्टि डाली। विजया उस दृष्टि का अभिप्राय समझ गई। वह अपनी सास के पाँवों के पास खड़ी होकर धीरे धीरे बोली—वे कहते हैं कि मुझे ज्वर चढ़ रहा है।

विजया ने यह कह कर नीची दृष्टि कर ली। उसकी सास मन ही मन बड़बड़ाने लगी। कमरे के एक कोने में एक दीप टिम-टिमा रहा था। उसके क्षीण प्रकाश में सारा कमरा उदास सा प्रतीत होता था। विजया ने पानी भरने वाली को आज घर ही में ठहरा रक्खा था। उसे सूझा कि यदि इस समय डाक्टर साहब आ जाते तो अच्छा होता। सास की घबड़ाहट का हाल मालूम हो जाता। उसने अपनी सास से पूछा—मा, डाक्टर को बुलाऊँ ?

विजया की सास ने इसमें कुछ असन्तोष सा प्रकट नहीं किया। उसने पनिहारिन को उठा कर उससे डाक्टर को बुला लाने को कहा। पनिहारिन भी विजया के भाग से आज अच्छी ही मिली थी। वह कहने लगी इस रात को मेरे उतनी दूर कौन जाता है ?

बाप रे बाप ! क्या मुझे डर नहीं लगती ? हमारी ज्यान मिट्टी की थोड़ी ही है। सारे दिन पानी भरते भरते थकी रहती है।

विजया ने उसे डरा धमका कर किसी प्रकार डाक्टर को बुलाने को लगा दिया। पनिहारिन बड़बड़ाती चली गई। विजया कमरे में अकेली ही रह गई। उसके हृदय में तरह तरह के विचार उठने लगे। वह सोचने लगी---हाय ! यदि ये मुझे अकेली ही छोड़ जावेंगी तो मैं क्या करूँगी ? उनकी तो मुझे कुछ भी आशा नहीं है। आज छः सात महीने हुए उन्होंने मुझसे बोलना भी छोड़ दिया है। बार बार कह चुके हैं कि तू मेरे योग्य नहीं है। हा दुर्दैव ! मैं क्यों न इनके बदले बीमार हुई। हे धर्मराज ! क्या तुम्हारे यहाँ भी न्याय नहीं रहा ! क्या तुम भी मेरी सुधि नहीं लोगे ? हे पितृपति ! इनकी मृत्यु मेरे शिर डाल दो। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी। हाय ! क्या दुर्भागियों को मृत्यु भी सुलभ नहीं है ? किन्तु यदि मैं मर जाऊँगी तो मेरे पापों का फल कौन भोगेगा ? मेरे दुःखों का बोझ कौन ढोवेगा ? मेरे पूर्व जन्म कृत अघों का प्रायश्चित्त कौन करेगा ? विजया इसी प्रकार विह्वल होकर रोती थी। फिर कभी सोचती थी : नहीं मैं मृत्यु का वर क्यों माँग रही हूँ ? मेरे स्वामी की सेवा कौन करेगा ? उन्हें खाना ही बनाके कौन खिला देगा। वे कैसे ही हों किन्तु मेरे तो स्वामी ही हैं। हमारा यह सम्बन्ध कौन तोड़ सकता है ? वे मुझे चाहे कितना ही कष्ट दें, मैं सब सह लूँगी। संसार में प्राणी आता ही किस लिए है ? सहने के लिए। ज्ञानवान पुरुषों का बचन है कि

'स' तीन हैं स, श, ष। इनका अर्थ है सहो! सहो! सहो! तो मैं कष्टों से डर कर उनकी पद-सेवा से क्यों विमुख होऊँ? मैं मर के उन्हें अकेला कैसे देख सकूँगी? उनको दुःखी देख कर क्या मुझे यमराज के दरबार में भी सुख होगा! हाय!

सहसा प्रदीप की शिखा उज्ज्वल हो उठी। सारा कमरा प्रकाशमान हो गया। इसी समय बाहर से शब्द आया घुग्घू! फिर सुनाई दिया घुग्घू! विजया इसका कुछ भी रहस्य न समझ सकी। उसे कुछ भय सा मालूम हुआ। वह अपने सास के मुख की ओर एकटक देखने लगी। प्रदीप का आलोक धीरे धीरे मन्द होने लगा। कमरे में अन्धकार अधिकार जमाने लगा। रोगिनी का साँस जल्दी जल्दी चलने लगा। उसने जल के लिए संकेत किया। विजया जल का गिलास लेने को उठी। दीपक बुझ गया। रोगिनी का जीवन-प्रदीप भी ठीक इसी समय अव-सान हो गया!!! विजया की सास उसे अन्धकार में छोड़ गई!!!

विजया शीघ्रता से प्रदीप प्रज्ज्वलित कर पानी का गिलास लेकर सास के पास आई। वहाँ देखा तो काम पूरा हो गया है! विजया अपने दुःख का वेग न रोक सकी। वह फूट फूट कर रोने लगी। उसकी रोने की आवाज सुन कर निमेष भी घबड़ा गए।

दिशाएँ खुल गईं थीं। धीरे धीरे दशों दिशाओं में विजया के दुःख की ज्वाल फैल गई। तारक-दल ने कातर हो अपना

मुख छिपा लिया। विहग-वृन्द विजया को दुखी देख कर तरह तरह के शब्दों में उससे समवेदना प्रकट कर रहे थे। डाक्टर साहब रोने की आवाज सुन बाहर ही से उलटे-पाँव लौट गए। पनिहारिन शीघ्रता से भीतर आई। वह विजया को धीरज बँधाने लगी। किन्तु विजया का शोक और भी उमड़ने लगा। वह रो रोकर विलाप करने लगी।

हा ! मा, मुझे न छोड़ जाओ। मैं तुम्हारे बिना अकेली कैसे रहूँगी ? हाय ! तुम सूनसान चली गई और मुझे अन्धकार में छोड़ गई। मा ! मुझे भी अपने साथ ले जाओ। मैं वहाँ तुम्हारी सेवा करूँगी। मा ! मा !——

विजया यह कहते कहते अचेत होकर अपने सास के पाँवों में गिर पड़ी। मानो वह भी अपने सास के साथ जाने को उद्यत हुई। पनिहारिन यह देखकर घबड़ा गई। वह दौड़ती हुई निमेष के कमरे में जाकर यह सब समाचार सुना आई। निमेष अवाक् रह गए। वे अपना सब खेल भूल गए। उनका स्वप्न सहसा भंग हो गया। उन्हें इस समय कुछ कर्त्तव्य ज्ञात नहीं हुआ। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ से कुछ काल तक एकटक पनिहारिन का मुख ताकते रहे। तदुपरान्त वे सहसा रो पड़े। निमेष खूब रोए। वे अपनी चाची को बहुत प्यार करते थे। उनके माता-पिता नहीं थे। चाची ने ही उनका बाल्यकाल से लालन-पालन किया था। उनका भी निमेष के सिवाय और दूसरा न था। वे बाल-विधवा थीं।

जब निमेष के दुःख का वेग कुछ कम हुआ, तब वे अपनी चाची

के कमरे में गए। उन्होंने देखा कि चाची स्वर्गलोक को चली गई हैं। पास ही विजया मूर्छित होकर पड़ी है। निमेष का दुःख फिर प्रबल हो आया। वे फिर फूट फूट कर रोने लगे। अपने को बार बार धिक्कार देने लगे, और मन ही मन कहने लगे—हाय! मैंने मरती समय चाची का मुख भी नहीं देखा। मैं बड़ा कृतघ्न हूँ। यदि मैं उनकी दवा करता तो वे अभी न मरतीं। हाय! मैं जानता था कि चाची जी बीमार हैं किन्तु मैं फिर भी कभी उनके पास नहीं गया। उन्होंने मुझे बुलाया। मुझे मरती समय अपना मुख दिखा जा कहके बार बार विजया को मेरे पास भेजा, किन्तु हाय! हाय! मैं तब भी नहीं आया। एक बार अपना यह कलंकित-मुख भी उन्हें न दिखाया। मरती समय उनके मुख का आशीर्वाद भी ग्रहण नहीं किया! हाय! मैं बड़ा हत्यारा हूँ! मैं महापापी हूँ! दुष्ट आततायी हूँ! मैंने दूसरी स्त्री पर मोहित होकर अपना सर्वनाश किया! अपना सब कुछ खोया! अपनी चाची की मृत्यु की। अपनी स्त्री को उतना कष्ट दिया।

निमेष ने एक बार विजया की ओर दृष्टि डाली। विजया का सारा शरीर पीला पड़ गया था। वह केवल अस्थि-पिंजर-शेषा रह गई थी। वह कान्तिहीना हो गई थी। उसकी आंखें भीतर चली गई थीं। निमेष को अत्यन्त कष्ट होने लगा। उन्हें अपने ऊपर बड़ी घृणा हुई। उन्होंने पनिहारिन से विजया के मुख में पानी छिड़क कर व्यजन करने को कहा। विजया की चेतना धीरे धीरे लौट आई। उसने देखा कि निमेष उसके पास बैठे रो रहे हैं। वह

भी फूट फूट कर रोने लगी। बहुत काल तक दोनों रोते रहे। तदुपरान्त निमेष विजया से कहने लगे—

विजया, मुझे क्षमा करो प्रेयसि ! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। हाय ! मेरे पापों का फल मुझे मिल चुका है। मुझे क्षमा करो प्रिये !

विजया अधिक न सुन सकी। वह अपने स्वामी के चरणों में शिर रख कर रोने लगी। और कातर स्वर में कहने लगी —

नाथ ! आपने मेरा क्या अपराध किया जो मैं आपको क्षमा करूँ ? आप मेरे आराध्य हैं। यह सब फल मुझे मेरे ही दुर्भाग्य से मिला। मैं ही अपराधिनी हूँ। आप मुझे क्षमा करें।

निमेष ने विजया को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया। विजया का चिर-दुःख आज शान्त हुआ। इस समय तक पड़ोस के आदमी भी रोना धोना सुन निमेष के घर एकत्रित हो गए थे। निमेष उनकी सहायता से अपनी चाची की अन्तिम क्रिया करने लगे। विजया दूसरे कमरे में चली गईं।

धन्य ! विजया, आज तुम सचमुच विजया हुईं !

नवम पुष्प

कर्तव्य-निर्णय

भविष्य को आशा का वियोग असहनीय हो गया। उसके विश्लेष का दुःख दुर्दान्त हो गया। वे अपने को किसी प्रकार न सँभाल सके। आशा की मूर्ति चेष्टा करने पर भी अपने हृदय से न हटा सके। इच्छा करने पर भी उसे नहीं भूल सके। आशा के प्रेम ने उन्हें बाँध लिया था। वे यह बन्धन लाख उपाय करने पर भी न काट सके। प्रेम का यह अदृश्य गुण टूटने पर भी न टूटा। भविष्य की दशा उन्मत्त मनुष्यों की सी हो गई। उनका मन किसी काम में नहीं लगता था। उनके आँखों की निद्रा चली गई। उनकी रात्रियाँ आशा के ही ध्यान में बीतती थीं। जब भविष्य अत्यन्त व्याकुल हो गए, अपने को किसी प्रकार न थाम सके तो वे श्री दुर्गादेवी जी के पुजारी जी महाराज के पास जाने को उद्यत हुए। पुजारी जी महाराज एक वृद्ध तथा ज्ञानवान पुरुष थे। उनका बहुत बड़ा मान था। भविष्य उनका बड़ा आदर करते थे। वे अपने बाल्यावस्था में भी कभी कभी उनके पास जाया करते थे। पुजारी जी महाराज भविष्य को अच्छी अच्छी बातें बतला देते थे।

भविष्य को इस अन्धकार में केवल वे ही एकमात्र आलोकित

नक्षत्र से दिखलाई दिए। इस चंचल सागर में केवल वे ही एक स्थिर स्तम्भ से प्रतीत हुए। इस 'माया कानन' में वे ही वर-दायिनी शक्ति से ज्ञात हुए——भविष्य ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि उन्हीं के शरण में जाकर उन्हें अपना दुःख सुनाऊँ। मेरी इस दुर्बलता की औषध केवल मात्र वे ही कर सकते हैं। नहीं तो मैं इस दुःख का बोझ नहीं ढो सकूँगा। भविष्य यह संकल्प करके पुजारी जी महाराज के पास गए। जाते ही उन्होंने पुजारी जी के चरणों में प्रणाम किया। पुजारी महाराज ने चिरायु रहो——कह कर उन्हें बैठने को संकेत किया।

भविष्य उन्हीं के पास एक दूसरे आसन में बैठ गए। पुजारी जी महाराज बोले——भविष्य ! तुम कुशल से तो रहे ?

भविष्य——हाँ महाराज, आपकी कृपा से सकुशल रहा।

पुजारी——आज इस दोपहर को किस कार्य-विशेष के लिए आना हुआ ?

भविष्य——महाराज, अनन्त-सागर में बहता हुआ प्राणी सामने सहारा देख कर जिस हेतु उसके पास जाता है, रोग से पीड़ित जिस कारण वैद्य के पास जाता है, ग्रीष्म के प्रखरातप से सन्तप्त मनुष्य पेड़ की छाया देख कर जिस लिए उसके पास जाता है, सघन-बन के निविड़ान्धकार में पथ भूला हुआ दूर आलोक देख कर जिस लिए उसके पास जाता है, उसीलिए मैं भी आपके पास आया हूँ। आज संसार में मुझसा दुःखी कोई नहीं है, मुझसा भाग्य का मारा कोई नहीं है, मुझसा कंगाल कोई नहीं है ! मैं

आपके शरण आया हूँ। मेरी रक्षा करो। मुझे इस दुःख से छूटने का प्रयत्न बताओ।

पुजारी जी महाराज भविष्य की बातें सुन कर आज कुछ विस्मित से हुए। उन्होंने भविष्य के मुख से ऐसी बातें और कभी नहीं सुनी थीं। वे भविष्य के कन्धे पर हाथ रख पूछने लगे---

भविष्य, कहो तो राही तुम्हारे ऊपर ऐसा क्या दुःख आ पड़ा है? ऐसी कौन सी आपत्ति है जिससे तुम इतने घबड़ाए हो?

भविष्य---महाराज, मेरा दुःख बड़ा दुस्सह है। मैं घोर आपत्ति में फँस गया हूँ। हाय! मैं आते ही जग में छला गया हूँ।

भविष्य ने धीरे धीरे पुजारी जी महाराज को अपना सारा दुःख कह सुनाया। उन्हें अपनी दशा से भली भाँति परिचित करा दिया।

पुजारी---भविष्य, मुझे तुम्हारी बातें सुन कर तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आ रही है। किन्तु मैं तुम्हें इस विषय में क्या सहायता दे सकता हूँ?

भविष्य---महाराज, आप सब कुछ कर सकते हैं। आप मुझे डूबने से बचा सकते हैं। मुझे अब आप केवल यह बतला दें कि मैं इस बन्धन से मुक्ति कैसे पा सकता हूँ? इस दुख को कैसे भूल सकता हूँ? अब मैं विवाह करना नहीं चाहता। अब मुझे यह लालसा नहीं है। किन्तु मैं आशा का ध्यान नहीं छोड़ सकता। उसकी याद मुझे पल पल व्यथित करती है।

पुजारी---तुम्हारी दशा इस समय अत्यन्त शोचनीय हो गई

है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। किन्तु इससे छुटकारा पाना कोई बड़ी बात नहीं है। तुम प्रेम को पहिचानो। प्रेम किसे कहते हैं, तुम नहीं जानते। इसीलिए तुम्हें यह दुःख हो रहा है। यदि तुम प्रेम को पहिचानते तो तुम आशा के लिए इतने व्यथित कभी न होते। उसके लिए तुम्हें इतनी व्याकुलता कभी न होती। उसका वियोग तुम्हें दुःख नहीं देता।

भविष्य---महाराज, प्रेम किसे कहते हैं? मुझे आप कृपा कर यह बतला दें। हाय! क्या मैं आज तक आशा को प्यार नहीं करता था?

पुजारी---नहीं, तुम यथार्थ में आशा को प्यार नहीं करते। उससे तुम्हारा वास्तविक प्रेम नहीं है। यह तुम्हारा भ्रम है, प्रेम के नाम में आसक्ति है। वास्तविक प्रेम ऐसा नहीं होता। यदि तुम आशा को सचमुच प्यार करते तो क्या आज तुम आशा से अपना सम्बन्ध तोड़ने की चेष्टा करते? उसके प्रेम को अपने हृदय से हटाने का प्रयत्न करते? जिस दिवस से आशा ने तुम्हें अस्वीकार किया उसी दिन से तुमने आशा से कितनी ही बार मन ही मन भला बुरा कह दिया होगा। तुम तब से उसके लिए अशुभ चिन्तना कर रहे होगे। कहो, ऐसा है नहीं?

भविष्य---हाँ, महाराज आपकी धारणा सत्य है। मैं कई बार आशा के अशुभ के लिए भगवान से प्रार्थना भी कर चुका हूँ।

पुजारी---हाँ, यदि तुम उससे यथार्थ में प्रेम रखते, उसे प्यार करते, तो क्या आज तुम उसके शत्रु हो जाते? उससे द्वेष भाव

रखते ? उसका अशुभ ध्यान में लाते ? मैं इसी लिए कहता था कि तुम प्रेम को नहीं पहचानते और इसी लिए तुम्हें यह दुःख हो रहा है। तुम यथार्थ में प्रेमी नहीं हो। जो वास्तविक प्रेमी होते हैं उन्हें अपने प्रेमपात्र की स्वीकृति अस्वीकृति से कुछ मतलब नहीं रहता। चाहे उनका प्रेमपात्र उन्हें घृणा करे, उन्हें द्वेष की आँखों से देखे। वे अपने प्रेमपात्र से मन नहीं हटाते। उसके शत्रु नहीं बन जाते। उनका प्यार उसके लिए और भी बढ़ जाता है। उनका अनुराग और भी गाढ़ा हो जाता है। वे सदा अपने प्रेमपात्र पर दया ही करते हैं। उसके शुभ-चिन्तन में ही मग्न रहते हैं। सच्चे प्रेमी अपने प्रेमपात्र से अपना प्रेम नहीं जतलाते। उससे नहीं कहते कि मैं तुझे प्यार करता हूँ, मैं तुझे चाहता हूँ। वे अपने प्रेम को गुप्त रखते हैं। अपने हृदय ही में छिपाए रखते हैं। समय आने पर उनका प्रेम उनके प्रेमपात्र को स्वयं मालूम हो जाता है।

भविष्य—किन्तु ऐसा प्रेम किस प्रकार हो सकता है ?

पुजारी—इस प्रकार का प्रेम केवल स्वार्थ का त्याग करने ही से हृदय में उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को नष्ट कर देता है, जब वह इस बात का ध्यान छोड़ देता है कि मुझे मेरे प्रेमपात्र से सुख हो, जब वह उससे किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं रखता, तभी ऐसा प्रेम प्रसूत हो सकता है। यही प्रेम यथार्थ में प्रेम है। यही वास्तविक अनुराग है। प्रेम को सुख से मिश्रित करना, उसे विषय-वासना से मलीन करना, कामना-तृप्ति से कलंकित करना सच्चे प्रेमियों का काम नहीं है। ऐसे मनुष्य प्रेमी नहीं

कहलाते। ऐसे ही प्रेमियों के पास दुःख फटकता है। इन्हीं को विरह भी सताता है। तथा इन्हीं को काम भी पीड़ित करता है। ऐसे ही प्रेम का क्षय भी होता है। सच्चा प्रेम अभ्यास से उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। उसका कभी क्षय नहीं होता। वह लोकोत्तर आनन्द का देने वाला बन जाता है। सच्चा प्रेमी अभ्यास करने से धीरे धीरे ईश्वर को भी पा लेता है।

भविष्य---महाराज, मनुष्य अपना प्रेम ऐसा उन्नत किस प्रकार बना सकता है कि उसे ईश्वर मिल जाय?

पुजारी---इस प्रश्न का उत्तर थोड़े शब्दों में नहीं दिया जा सकता। ऐसे प्रेम का पाना बड़ा कठिन होता है। सुनो, मनुष्य जब सच्चा प्रेमी हो जाता है अर्थात् वह जब अपने स्वार्थ को नष्ट कर निष्काम रूप से अपने पात्र को प्यार करने लगता है, जब उसके हृदय से विषय-वासना उठ जाती है, जब वह क्षणिक सुख की आशा को छोड़ वास्तविक सुख की इच्छा करने लग जाता है---तब उसका प्रेम किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं रहता। वह क्रमशः बढ़ता जाता है और धीरे धीरे सारा संसार उसका प्रेमपात्र हो जाता है। वह सारे संसार को एक सौन्दर्य सा अनुभव करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसका द्वेष, द्रोह, क्रोध, लोभ सब क्षय हो जाता है। उसे किसी का विरह नहीं सताता, क्योंकि सारा संसार उसका प्रेमपात्र बन जाता है। उसे किसी पर घृणा नहीं रहती, उसका हृदय निर्मल हो जाता है, विचार पवित्र हो

जाते हैं। जब प्रेम इस अवस्था तक पहुँच जाता है तब वह प्रेम भक्ति कहलाता है। भक्ति का आशय यही है। केवल राम नाम जपना भक्ति नहीं कहलाती। यथार्थ भक्ति विश्व-प्रेम ही से आती है। तभी मनुष्य विश्व-मूर्ति को प्यार करता है। जब तक उसके हृदय में द्वेष तथा कामादि रहता है तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। और द्वेषादि का नाश तभी हो सकता है जब मनुष्य विश्व-प्रेमी हो जाता है, जब सारा संसार उसका प्रेमपात्र बन जाता है, जब उसके लिए ईर्षा-द्वेष करने को कोई नहीं रहता। वह किसी के ऊपर क्रुद्ध नहीं होता। यही प्रेम यथार्थ में भक्ति है।

इस प्रेम की एक और भी विशेष अवस्था होती है, जिस अवस्था में कि प्रेम चरमावस्था में पहुँच जाता है। वह अवस्था इसके अर्थात् विश्व-प्रेम के बाद की है। उस अवस्था को ईश्वर-भक्ति कहते हैं।

भविष्य——महाराज, आपके इस उपदेश से मेरा भ्रम दूर हो गया है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। किन्तु आपकी बातों को सुनकर मेरे मन में कुछ शंकाएँ उठ रही हैं।

पुजारी——अच्छा तुम उन आशंकाओं को एक एक कर कहते जाओ। मैं यथाशक्ति उनका समाधान करने का प्रयत्न करूँगा।

भविष्य——महाराज, जो आपने अन्त में कहा कि ईश्वर-भक्ति ही प्रेम की चरमावस्था है, सो क्या विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति नहीं है? क्या ईश्वर-भक्ति इससे भिन्न है।

पुजारी——तुम्हारे हृदय में जो शंका उठी है वह उचित ही है।

विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति का एक खण्ड है। किन्तु ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति के लिए इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई ईश्वर-भक्ति को प्राप्त भी नहीं कर सकता। सारे विश्व की भक्ति करना एक प्रकार से ईश्वर-भक्ति ही करना है।

"सर्वेषां यः सुहृन्नृत्यं सर्वेषां च हिते रतः
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले।"

यथार्थ में मनसा वाचा कर्मणा विश्व-सेवा करना तथा दूसरों का उपकार करना ही धर्म अर्थात् कर्त्तव्य है। जब जीव इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है और जब उसका प्रेम इससे भी उन्नत होने लगता है, तब वह अपने लिए एक और प्रेम-पात्र को ढूढ़ता है। अर्थात् जब वह मनसा वाचा कर्मणा "सर्वेषां च हिते रतः' हो जाता है, जब वह अपने द्वेष कामादि को जीत लेता है, जब वह क्षमा, दया, उदारता आदि सात्विक-गुणों से अपने को अलंकृत कर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेता है, तब वह देवत्व को पाने की इच्छा करता है, तब वह मनुष्यत्व का पालन करते हुए तथा लोक-सेवा करते हुए भी साथ ही साथ अपने प्रेम को अधिक उन्नत कर ईश्वर की ओर लगाता है, उसकी प्राप्ति के लिए लगाता है। इसी प्रेम को ईश्वर-भक्ति कहते हैं। तब मनुष्य "सर्वं धर्मान् परित्यज्य" अर्थात् अपने सब गौण कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर उस महान् कर्त्तव्य में ईश्वर की शरण में चला जाता है। वह पहले पहले प्रस्थर की मूर्तियों में उस निराकार की कल्पना कर अपनी प्रवृत्ति उस ओर लगाता है।

"शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्यशिलामयार्चनम्"

इस प्रकार वह अपनी अन्य गौण क्रियाओं को ईश्वर ही में अर्पण कर देता है। यही श्रीकृष्ण भगवान् भी गीता में कहते हैं—

"यत्करोषि यदाश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।"

और इस प्रकार जब उस "ब्रह्मात्मैक्य" ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे शान्ति मिल जाती है। इससे उन्नत अवस्था प्रेम की और नहीं होती। इस अवस्था में जीव ईश्वर में लय हो जाता है।

"ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।"

भविष्य—महाराज, यह विषय अत्यन्त गूढ़ निकला। मैं इसे नहीं समझ सका। मैंने आपको वृथा कष्ट दिया। अब आप मुझे यह बतला दें कि स्वार्थ किसे कहते हैं? क्योंकि आपने बहुत बार कहा है कि स्वार्थ का नाश कर देना चाहिए।

पुजारी—मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त चंचल होती है। उसका चित्त अस्थिर होता है। वह मनुष्य को तरह तरह के प्रलोभन देकर बुरे कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। मन पर अधिकार जमाना अत्यन्त कठिन काम है। मनुष्य कभी किसी लालच में पड़ता है, कभी किसी में। वह अपने को जानबूझ कर भी व्यसनों में फँसने से नहीं रोकता। ऐसी अवस्था में जब कि मनुष्य किसी प्रलोभन में पड़ा रहता है, वह भारी भारी अनर्थ करने को उद्यत

हो जाता है। उसे उस समय उचितानुचित का विवेक नहीं रहता। वह अपने कार्य-सिद्धि के लिए अर्थात् उस प्रलोभन देने वाली वस्तु की प्राप्ति के लिए यदि कहीं पर आवश्यकता पड़े तो दूसरों को कष्ट देने में तत्पर हो जाता है। अपने लिए दूसरे की हानि कर देता है। अपने सुख के लिए दूसरे को सुख से वंचित करना चाहता है। दूसरों को दुःख देता है। यही सर्वाधम श्रेणी का स्वार्थ है। ऐसी प्रकृति के पुरुष नीच कहाते हैं। जो मनुष्य दूसरों के लाभ के लिए अपना स्वार्थ नहीं छोड़ता, अपने सुख को त्याग दूसरे का दुःख मोचन नहीं करता, परहित में तत्पर नहीं रहता, वह सामान्य श्रेणी का मनुष्य है। किन्तु यह स्वार्थ उस पूर्व-स्वार्थ से कुछ अच्छा है। जो मनुष्य दूसरों के लिए अपना सुख छोड़ देते हैं, दूसरे का दुःख मोचन करने के लिए अपना सर्वस्व लुटा देते हैं वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे ही परार्थी हैं। विश्व-प्रेमी हैं। ऐसे लोकहितकारकों को धन्य है। महात्मा भर्तृहरि जी ने चार प्रकार के पुरुष बतला रक्खे हैं—

"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये।
सामान्यस्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थोऽविरोधेन ये।
तेमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
येतु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।"

भविष्य—महाराज, आज आपने मेरा बड़ा उपकार किया, भूले हुए को पथ बतलाया। अब आप कृपाकर यह बतला दीजिए कि वास्तविक सुख किसे कहते हैं। और उसका साधन क्या है?

पुजारी जी महाराज भविष्य के प्रश्न पूछने के ढंग पर प्रसन्न होकर बोले—जिस सुख का बाह्येन्द्रियों की तृप्ति अथवा सन्तुष्टि से सम्पर्क न हो तथा जो सुख आत्मा को तुष्टिकारक हो वही वास्तविक सुख है। जिस सुख से भूख-प्यास तृप्त हो, काम-वासना पूरी हो तथा धन-सम्पत्ति मिले, वह सुख यथार्थ में सुख नहीं है। उस सुख में आत्मानन्द नहीं है। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए बाह्येन्द्रियों के सुख को तिलांजलि देनी पड़ती है। इन्द्रिय-निग्रह करना पड़ता है। तृष्णाओं का नाश करना पड़ता है। इच्छाओं को नष्ट करने से जो सुख मिलता है वही वास्तविक सुख है। यह स्वर्ग-सुख से भी श्रेष्ठ है।

"यच्चकाम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्।"

मनुष्य को सदा इसी सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। विषय-वासना से लब्ध सुख क्षणिक सुख है। ऐसे सुख का अभिलाषी मनुष्य विश्व-प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे सुखोपभोग से विषय-वासना घटने के बदले और भी बढ़ती जाती है। इस सुख की इच्छा से महानन्द प्राप्त नहीं होता।

भविष्य—महाराज, आपको धन्य है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे केवल एक प्रश्न और पूछना है। वह यह कि दु:ख का निर्वाण कैसे किया जाता है ? दु:ख को नाश करने के मुख्य साधन क्या हैं ?

पुजारी—तुम मुझसे निस्सन्देह पूछो। मुझे कोई इसमें

कष्ट नहीं हो रहा है। यह ज्ञान तुम्हें मैं नहीं बता रहा हूँ। यह हमारे पूर्व-पुरुषों का ही उपार्जित है। तुम्हें उन्हीं के लिए कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। अच्छा अब अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। दुःख को नाश करने का मुख्य साधन यथार्थता को पहचानना है। जो मनुष्य यथार्थता को जानता है उसके लिए सुख दुःख एक समान हो जाते हैं। बाह्येन्द्रियों के दमन करने से ही दुःख का भी नाश हो जाता है। दुःख इन्हीं के साथ है। आत्मा को दुःख कभी छूता भी नहीं। तृष्णाओं से ही दुःख प्रसूत होता है। अतः इन्हीं का दमन करना चाहिए। किसी काम को करने पर उससे अच्छे फल की प्राप्ति की इच्छा रखने ही से दुःख होता है। इसी लिए गीता में भगवान् ने कहा है —

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः।"

हमें केवल कर्म करने का अधिकार है। लाभालाभ की इच्छा करने का नहीं। यही इच्छा सर्व दुःखों की मूल है। जो कोई काम जिस समय आ पड़े उसे भले बुरे का विचार को छोड़ कर तत्क्षण ही पूरा कर लेना चाहिए। दुःख का ध्यान करने ही से दुःख बढ़ता है। इसी लिए कहा है कि—

"भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्।"

दुःख का ध्यान न करना ही दुःख-नाश करने की परमौषधि है। अपने हृदय में किसी प्रकार की चिन्ता को स्थान नहीं देना चाहिए।

भविष्य——महाराज, अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ। आज आपने मेरे लिए अत्यन्त कष्ट उठाया। मैं सदा आपका कृतकृत्य रहूँगा। आपने मुझे आज नवीन जीवन दिया, नूतन उत्साह दिया, नव्य-स्फूर्ति दी, तथा नव-बल प्रदान किया। अब मैं जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

पुजारी——अब मेरा भी सन्ध्या करने का समय आ गया है। तुम अपने घर को जाओ। दृढ़ प्रतिज्ञ रहो। मन में धैर्य रक्खो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा।

भविष्य अपने घर को चला गया। पुजारी महाराज के सुधोपम उपदेशों ने भविष्य को नवीन भविष्य प्रदान किया।

दशम पुष्प

पुनराशा

सायंकाल का सुहावना समय है। विहग-राशि अपने कलरव से चारों ओर माधुर्य प्रसार कर रही है। सुफला अपनी खिड़की के पास बैठी "सौन्दर्योपासक" पढ़ रही है। "सुन्दरि, इस संसार में क्या प्रेम पुरस्कार नहीं है? क्या प्रणय का प्रतिदान नहीं है?"—सुफला इतना पढ़ कर मन ही मन कहने लगी। क्यों नहीं है? प्रेम का पुरस्कार अवश्य है। इस संसार में इस पुरस्कार से वंचित कौन रहता है?—वह, आराम में कमल-दल सकुचाने लग गया है। कमलनाथ अस्ताचल में छिप गए हैं। वही सौन्दर्य है। प्रातः जिस अरुण मुखमण्डल ने शृंगार किया था इस समय उसी अरुण मुख-मण्डल ने शृंगार का संहार कर दिया है। यह प्रेम का पुरस्कार नहीं तो क्या है? कितनी मधुर विरह-वेदना विश्व में प्रसारित हो रही है, कैसा मर्म भरा राग फैल रहा है।

नहीं, इसे व्यर्थ वेदना कह कर भी कलंकित नहीं करना चाहिए। यह वेदना नहीं है। स्निग्ध माधुर्य है, स्थिर सौन्दर्य है। इसकी ज्वाला पवित्र है, इसका रंग मनोहर है। इसकी जलन अत्यन्त शीतल है। इसका घाव अदृश्य है। यह एक प्रकार का वह्नि-पथ है। यह ज्वाला मद-मोह-मात्सर्य को भस्मसात् कर

प्रणयिनी को भी एक पवित्र ज्वाला बना देती है। इस ज्वाला की ज्योति रात को अवदात प्रभात की ललित लालिमा में परिणत कर देती है। प्रेयसी इस ज्वाला की प्रियतमा-पतंगिनी बनती है। वह भस्म नहीं होती प्रत्युत स्वयं एक ज्वाला बन जाती है।

अहा, इस पवित्रता का शुभ-जन्म इसी सायंकाल की अरुणिमा से हुआ। यह अरुणिमा कैसा मंजुल मेल है। यही पवित्रता उच्च-पादप-शिखरों, उत्तुंग-अद्रि चूड़ों, तथा श्वेत-वारिद-राशि में अन्तर्हित रहती हुई विरहिणी के हृदय में पैदा होती है। कैसा पुनर्जन्म है, कैसा अलौकिक संस्कार है, यही पवित्र ज्वाला संयोग के समय मानिनी का मान बनती है, मुग्धा की लज्जा-शीलता बनती है, मध्याधीरा की कोपान्वित-वचनावली बनती है तथा प्रौढ़ाधीरा की सुमन-माल की मार बनती है।

प्रेम का पुरस्कार अनन्त है! वह दुःख होने पर भी सुख है, अशान्ति होने पर भी शान्ति है। चपलता होने पर भी अचंचलता है, रुदन होने पर भी गम्भीर गान है, वियोग होने पर भी मेल है, व्यथा होने पर भी एक अपूर्व आनन्द है, दुर्बलता होने पर भी एक अपूर्व बल है। जीवन-सर्वस्व दान का मूल्य तल्लीनता है, अपने चित-चोर के लिए व्याकुल होना है, उससे प्रार्थना करना है, उसको न पाने पर विरह-व्यथित होना है। यही तल्लीनता उसकी प्राप्ति है, यही व्याकुलता सुख है, यही अनुनय स्वीकृति है, तथा यही विरह उससे मेल है। अहा! कितनी अपूर्वता है, कितना वैचित्र्य है।

सुफला फिर पढ़ने लगी—"जब कोई दूसरा नहीं मिलता तब मन आप ही आप बातें किया करता है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यही है कि दूसरे से कहने सुनने पर दुःख का बोझ हलका होता है, और मन ही मन चिन्ता करने से दुःख अधिक होता जाता है।"

सुफला अपने से स्वयं प्रश्न करने लगी—किन्तु अच्छा कौन है? आनन्द किसमें है? वह कहने लगी न कहना ही अच्छा है। मैं अपने हृदय की यातना किसी के सन्मुख प्रकट नहीं करूँगी। अपना दुःख किसी से न कहूँगी। मुझे इसी में आनन्द मिलता है। मा! मैं तेरे वियोग का दुःख तेरे ही सन्मुख प्रकट करूँगी। तुझी से कहूँगी। कहूँगी क्यों? मैं तो सदा ऐसा ही करती हूँ। इस खिड़की के पास बैठती हूँ। अपनी आँखों के सामने मा की मूर्ति बनाती हूँ। और उसे अपनी बातें सुनाती हूँ। उसके सामने अपने दुःखों की चर्चा करती हूँ। अहा! इस प्रकार कहने में कितना आनन्द है? उस समय मेरा प्रत्येक रोम बोलता है। प्रत्येक साँस अपना दुःख सुनाता है। उस समय मेरे हृदय में छिपा हुआ सुख फूट फूट कर मेरे शरीर से बाहर निकलता है। मेरा आनन्द मेरे मुख से दुःख बन कर आता है। मैं कभी अंगुली उठा कर अपनी मा को पीटने भी लगती हूँ। किन्तु वह मेरी आँखों में हँसती है। भगती नहीं। मेरे ध्यान में विचरती है। मेरे आनन्द के द्वारा अपना पागलपन प्रकट करती है।

सुफला का अंचल यह सोचते सोचते स्नेहाश्रुओं से भीग गया। वह आँखें पोंछ कर फिर पढ़ने लगी। और पढ़ते पढ़ते हँसने लगी।

तथा कहने लगी— "अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े दिनों में प्रेम सब को पराजित कर देगा" —इसका क्या अर्थ ? प्रेम क्यों लड़ने आवेगा ? तब तो महाभारत से भी बड़ा युद्ध होगा। एक ओर सारा संसार और दूसरी ओर प्रबल प्रेम। सुफला फिर हँसने लगी। उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—मैं तो मा के अंचल में मुख छिपाकर छिप जाऊँगी। तब भी पराजिता नहीं कहलाऊँगी। अवश्य छिप जाऊँगी।

"कहाँ ?"

सुफला के मुख से फिर निकल पड़ा—मा के अंचल में।

सुफला ने मुख फेर कर देखा तो उसकी प्यारी सखी विजया उसके पीछे खड़ी हो मन्द मन्द हँस रही है।

सुफला—बैठो दिद्दी, कब से खड़ी हो ? आज तुम बहुत दिनों से मेरे यहाँ आई हो। मैं तो तुम्हारा बोलना भी नहीं पहचान सकी।

विजया—अभी आ रही हूँ बहिन। मैंने आते ही सुना "अवश्य छिप जाऊँगी।" क्यों तू यह क्या कह रही थी ?

सुफला हँसती हँसती बोली—कुछ नहीं।

विजया—नहीं क्यों ? मैंने तो अपने कानों से तुझे यह कहते सुना।

सुफला—इसे जाने दो दिद्दी, इस पुस्तक को पढ़ रही थी, तुमने इतना ही सुना होगा।

विजया—सखी, तू आज तक मेरे यहाँ क्यों नहीं आई ?

सुफला—ऐसी ही कई अड़चनें आ गईं। आज आऊँगी, कल आऊँगी करती आज तक न आ सकी। पर मैंने कल को आने का निश्चय कर लिया था। आज तू ही आ गई। दिद्दी ! तेरी सारा मर गईं हैं—मैंने यह आज ही सुना।

विजया—हाँ, वे तो कभी स्वर्ग को चली गई हैं। आज उन्हें गए पन्द्रह दिवस हो गए।

सुफला—अब तो जीजा जी सँभल गए हैं ना ?

विजया हँसने लगी।

सुफला—हँसती क्यों हो बहिन ? क्या इतना आनन्द हो रहा है ?

विजया—तुझसे यह किसने कहा ?

सुफला—तुम्हारे हँसते हुए मुख ने।

विजया—हाँ, सखी ! तू तो सब जानती है, फिर मुझसे क्यों पूछती है ?

सुफला—दिद्दी, मुझे यह सुन कर आज जितना सुख हुआ उतना और कभी नहीं हुआ। मैं उनकी दशा तुमसे अच्छी तरह जानती थी। आज मैं तुमसे एक बात और कहूँगी। यह मैंने आज तक तुमसे छिपाई थी।

सुफला ने यह कहके अपना सन्दूक खोला। और उससे निमेष का पत्र निकाल कर विजया के हाथ में दे दिया। विजया को पत्र पढ़ कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने लज्जित होकर मुख नीचा कर लिया।

सुफला—तुम्हें किस बात की लज्जा बहिन ! तुमने क्या किया ?

विजया—तूने यह पत्र और भी किसी को दिखलाया ?

सुफला—दिद्दी, क्या मैं पागल थी ? मैं इसे किसी को क्यों दिखाती।

विजया—आशा को भी नहीं ?

सुफला—हाँ, आशा को तो दिखलाया। किन्तु इसमें क्या हानि है ? वह किसी से कहेगी थोड़ी।

विजया—अच्छा सखी ! इसमें कोई हानि नहीं है। क्या आशा आज तुम्हारे यहाँ नहीं आई ?

सुफला—नहीं, आजकल शायद उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता।

विजया—कल को उसके यहाँ चलेंगे। अब मैं जाती हूँ। फिर अँधेरा हो जावेगा।

विजया चली गई। सुफला ने विजया से आशा की प्रकृत-दशा छिपा दी। उसने उससे इस विषय में कहना कुछ उचित न समझा। सुफला को आज विजया का प्रसन्न मुख देख कर अत्यन्त आनन्द हो रहा था। किन्तु फिर भी वह भविष्य के लिए चिन्तित थी। वह भविष्य को अत्यन्त प्यार करती थी। सुफला कभी आशा की दशा पर द्रवित होती थी, और कभी उसे धिक्कारती थी। इतने में आशा भी अपनी दासी के साथ उसके कमरे में आ पहुँची। आशा आज कई दिनों से आई थी। वह जिस दिवस

से निमेष पर लट्टू हुई थी, तब से सुफला के यहाँ आज ही आई थी। सुफला उसके इस अकस्मात् आगमन से कुछ विस्मित सी हुई। वह आशा से सस्नेह कहने लगी---

आओ सखी, आज तो मेरे यहाँ पश्चिम से सूर्य आया है।

आशा इस "भंग भरी वचनावली" को श्रवण कर अत्यन्त लज्जित हुई। उसने मुख नीचा कर लिया। सुफला और भी विस्मित हुई। वह फिर बोली---क्या अब तेरा स्वास्थ्य अच्छा है ?

आशा ने अत्यन्त संकुचित स्वर में कहा---हाँ, अब मैं अच्छी हूँ।

सुफला---अभी विजया भी मेरे यहाँ आ रही थी। वह तेरे आने से कुछ ही पूर्व अपने घर को चली गई है। अब निमेष उससे असन्तुष्ट नहीं रहते। वे अपनी चाची की मृत्यु के बाद सँभल गए हैं।

आशा---विजया दिद्दी का तो स्वास्थ्य अच्छा है ?

सुफला---हाँ, आज मैंने उसे कई दिवसों से हँसमुख देखा। वह तेरे लिए भी पूछती थी। तू इतने दिनों तक यहाँ क्यों नहीं आई ?

आशा की आँखें डबडबा आई। वह धीरे धीरे कहने लगी---बहिन मुझे क्षमा करो। तुम मेरी दशा से परिचित थोड़ी नहीं थी ? हाय ! न जाने मुझे क्या हो गया था। मैंने बड़ा बुरा काम किया। सखी ! ---आशा यह कह कर रोने लगी। सुफला को आशा की ये

बातें सुन कर अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने आशा का मुख अपने अंचल से पोंछ लिया। और वह मधुर स्वर में बोली—सखी, रो नहीं, भूल सभी करते हैं। इसमें किसी का क्या दोष ? भूल को स्वीकार न करके उसे न सुधारने में पाप है। मनुष्य का हृदय अत्यन्त चंचल होता है। जब वह कभी आवेग में आता है तो वह भले बुरे का विचार छोड़ देता है। मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि तू अब अपने भ्रम को दूर कर चुकी है।

आशा—बहिन मुझे क्षमा करो। मुझसे बड़ा भारी दोष हुआ।

आशा यह कह कर सुफला के अंचल में मुख छिपाकर रोने लगी। सुफला बोली—बहिन, तूने क्षमा माँगने को मेरा क्या अपराध किया ? मुझे तो केवल तेरी दशा देख कर बुरा लगा था। रो मत आश, तू दोषी नहीं है। ऐसा कौन है जो निष्कलंक है ? जिसने कभी चूक नहीं की ? जो सदा निर्विकार है ? चन्द्रमा तक कलंकित है। चूकना दोष नहीं है, चूक सभी से होती है। इससे न बचने में दोष है।

आशा—नहीं सखी, मेरा मन साक्षी देता है कि मैंने बड़ा अघ किया। मुझे क्षमा करो।

सुफला—सखी, मैं कह चुकी हूँ कि तूने कुछ नहीं किया। मुझसे क्षमा क्यों माँगती है, तू स्वयं अपने से क्षमा माँग। मैंने तुझे क्षमा की। जब मनुष्य कोई बुरा काम करने पर अपनी कृति पर पश्चात्ताप करता है, तब उसी व्यामोह से उस अघ का कलंक मिट जाता है। उसके हृदय में जो मर्म-वेदना होती है वही वेदना

उस पाप का प्रायश्चित्त है। वे पश्चात्ताप के अश्रु उस मल को बहा देते हैं। बहिन ऐसे अश्रुओं में बड़ी शक्ति रहती है।

आशा—तूने क्षमा कर दिया। अब मेरा सब दुःख मिट गया है। हाय ! बहिन मेरे हृदय में जो सहसा परिवर्तन हुआ मैं उसका कारण नहीं जानती हूँ। हाय ! तब मेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गई थी। मैं असहाया हो उस पाप-जाल में फँस गई। जब तूने मुझे पत्र दिखलाया था, तब मैं बिलकुल ज्ञान-शून्य बालिका सी हो रही थी। मुझे भले बुरे का कोई ज्ञान न रहा था। यह मैं क्या कर रही हूँ इसका कुछ ध्यान नहीं था। किन्तु बहिन तेरे चले जाने पर जब मुझे निद्रा आई तब मैंने जो स्वप्न देखा उसी से मेरा यह स्वप्न टूटा। यह निद्रा भंग हुई। जैसे ही मेरी आँख खुली तो मैंने किसी का गाना सुना—

"निशार स्वपन छुटल रे, एइ छुटल रे।
टुटल बांधन टुटल रे!"

सुफला—सखी तूने ऐसा क्या स्वप्न देखा ?

आशा—हाय ! मुझसे यह न पूछो। मैंने बड़ा भीषण स्वप्न देखा। ऐसा स्वप्न कभी नहीं देखा था। उसे स्मरण कर अभी तक मेरा हृदय काँपता है। साँस जोर जोर से चलने लगता है। शरीर से स्वेद छूटने लगता है। हाय ! कैसा भीषण स्वप्न देखा। ओह ! कैसा भयंकर था। हाय ! हाय !

आशा फिर रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधार बहने लगी।

सुफला——सखी, रो नहीं। यदि तुझे उस स्वप्न को कहने में कष्ट हो रहा है तो न कह।

आशा——नहीं, उसे अवश्य कहूँगी। तुमसे कुछ न छिपाऊँगी। उसे कह कर मुझे अवश्य कुछ शान्ति मिलेगी।

सखी ! जब उस दिन तू मुझे पत्र दिखा कर चली गई थी, मैं विविध विचारों के सागर में डूबती सी गई। थोड़ी देर में मुझे नींद आ गई। मैंने देखा कि मेरे सामने एक रुधिर की नदी बह रही है, एक अपार नदी बह रही है, उस नदी में उत्ताल-तरंगें उठ रही हैं। उन रक्त-तरंगों के साथ बड़ी-बड़ी अस्थियाँ उछल रही हैं। वही नदी कई प्रकार के छोटे बड़े कीड़ों से परिपूर्ण है। कभी बड़े बड़े ग्राह रक्त-स्रोत को ऊँचा उठा रहे हैं। मेरे देखते देखते उस नदी का रुधिर उबलने लगा। बड़ी बड़ी लाशें रक्त से बाहर निकल कर फिर डूबने लगीं। नदी से भाप सी उठने लगी। और चारों ओर दुर्गन्ध फैलने लगी। सहसा आकाश में बादल छा गए। चारों ओर घनान्धकार हो गया। वह अन्धकार धीरे धीरे इतना बढ़ गया कि हाथ से हाथ नहीं सूझ पड़ा। बादल ऊर्ध्व-निर्घोष करने लगे। सारी पृथ्वी विकम्पित हो गई। इसी समय उन बादलों से वाणों की वृष्टि होने लगी। हाय ! मेरा सारा शरीर उन वाणों से विद्ध हो गया। मैं ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगी। अन्त में मैं तड़फड़ाती हुई अशक्ता हो उस नदी में गिर पड़ी। हाय ! हाय ! उसके स्मरण से मेरा शरीर काँप रहा है। मैं उन तरंगों के साथ उछलने लगी। मैं सारे रक्त में लथपथ

हो गई। मेरे मुख में कीड़े जाने लगे। मैं ज़ोर से चिल्लाने लगी। धीरे धीरे बादल हट गए। वाण-वृष्टि रुक गई। फिर प्रकाश हो गया। मैंने देखा उस नदी के तट में निमेष एक ऊँचे टीले पर बैठ कर वंशी बजा रहे हैं। उनकी वंशी की ध्वनि सुन कर उस नदी में भूत-प्रेत नाचने लगे। उन भूतों के मुख से आग की ज्वाला निकल रही थी। सहसा एक प्रेत ने मेरा पाँव पकड़ लिया। मैं भय के मारे काँपने लगी और निमेष को अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगी। किन्तु वे हँसने लगे। उन्होंने मुझे न बचाया। मैं और भी तीव्र स्वर में चिल्लाने लगी। वह प्रेत मुझे अपने मुख में डालने लगा। इतने ही में तुम्हारे दद्दा वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मुझे उस दुष्ट का ग्रास जान कर उसका शिर तलवार से अलग कर दिया। वह मर गया। मैं उसके हाथ से छूट गई। फिर उन्होंने मुझे गुण से बाँध अपनी ओर खींच लिया। मैं उस नदी से बाहर निकल आई। मैं उन्हें धन्यवाद देने के लिए मुख खोलना ही चाहती थी कि इतने में मेरी निद्रा टूट गई। मैं स्वेद से भीग रही थी। मैंने आँखें खोल कर देखा तो मैं पलंग से नीचे गिरी हूँ। हाय! कैसा भयंकर स्वप्न देखा।

सुफला—हाँ, बहिन, अवश्य भीषण स्वप्न देखा।

आशा—फिर तुम्हारे उपदेश मुझे एक एक कर याद आने लगे। मैं वहाँ घण्टों बैठ कर रोई। मुझे अपने कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

सुफला—बहिन, तब तू मेरे यहाँ आज तक क्यों नहीं आई?

आशा—उसी दिन से मुझे प्रबल ज्वर चढ़ आया। मुझे दस दिन तक लगातार उसने नहीं छोड़ा। मैं मन ही मन सोचती थी कि मैंने अपनी सखी को रुष्ट कर दिया। नहीं तो वह मुझे देखने के लिए अवश्य आती।

सुफला—मुझे यह कुछ मालूम न था, नहीं तो मैं तुझे देखने को अवश्य आती। अच्छा बहिन, आज मेरे ही यहाँ रह, अब रात हो गई है।

आशा सुफला के ही यहाँ रही।

एकादश पुष्प

युवा-योगी

तीर्थराज प्रयाग में पतित-पावनी गंगा, सूर्य-सुता यमुना तथा सरस्वती का पवित्र संगम त्रिवेणी के नाम से प्रख्यात है। यहाँ प्रति वर्ष लाखों मनुष्य अपने कलुषों को बहाने के लिए आया करते हैं, तथा त्रिवेणी के पवित्र और निर्मल जल में स्नान कर अपने शरीर का मल धोकर पुनीत बनते हैं।

सभ्य-भारत के समाज में भी ऐसे अनेक जन-संगम हैं जहाँ भारत के प्रत्येक स्थान से मनुष्य आकर उस अनन्त-शक्तिमती के अनन्य छत्र की निर्भय छाया में एकत्रित होकर पारस्परिक द्वेष-द्रोह का मल प्रक्षालन कर अपने कलुषित विचारों को बहाते हैं। किन्तु अब काल के कुटिल-फेर से हमारी श्रद्धा ऐसी उपयोगी रीतियों से हट रही है। अब इस पवित्र जन-संगम का मूल्य हमारी दृष्टि में घट रहा है। बहुत लोग तो इसे केवल निर्मूल ढोंग तथा प्राचीन विचारों का चर्म-शुष्क-अस्थि-पिंजर समझते हैं। अब ऐसे लोगों के आन्तरिक ज्ञानचक्षु ही अन्धे हो गए हैं। अब वे इस शुष्क-कंकाल के भीतर उस अनन्त-आनन्दमयी की मूर्ति ही नहीं देख सकते। अब हमारी एकत्रित-दृष्टि प्रस्थर की प्रतिमा को जीवन देना ही भूल गई है। अब यह बात प्रस्थर के समय की समझी जाती है।

किन्तु उस काल को प्रस्थर का समय बतलाना भूल है। भारत में प्रस्थर का समय अब आया है जब कि हमारे हृदय ही पाषाण के हो गए हैं। हमारे उन विशुद्ध-पूर्व-विचारों में प्रस्थर पड़ गए हैं। उस प्रस्थर के समय में भी अन्धकार था सही, किन्तु वह अन्धकार दिशा खुलने से पूर्व का था और अब दिशा अस्त होने के बाद का है। इन दो अन्धकारों में अत्यन्त अन्तर है। पहिले के बाद उज्ज्वल ऊषा आलोक हुआ था किन्तु अब अगणित तारक-दल समुदय हुआ है, जो कि इस तिमिर को भंग करने के योग्य नहीं है।

उस प्रस्थर के समय में एक दिव्य-आलोक और था, वह था ईश्वर की अटल भक्ति। जो कि भारत के पूर्व-पुरुष-पुंगवों के गुण-ग्राही-हृदयों में प्रतिफलित हो धीरे धीरे सारे भारत को प्रकाश का एक उज्ज्वल-जामा पहनाने में सक्षम हुई थी। किन्तु अब भारत सर्वव्यापी अन्धकार में डूब रहा है। पूर्व-पुरुषों का हृदय यदि मणि का था तो अब के मनुष्यों का कोयले का हो गया है। द्रव्य एक ही है किन्तु गुण बदल गया है।

भारत के इन्हीं जन-संगमों में दुर्गा-मेला भी प्रख्यात है। यह प्रति वर्ष आश्विन तथा चैत्र में होता है। आज चैत्राष्टमी है। आज श्री दुर्गा देवी जी के मन्दिर में अपार मेला हुआ। देवान्वयिओं का अपार संसर्ग हुआ। आज बैर और विरोध विधि की सृष्टि में हैं कहना असत्य सा प्रतीत होता था।

प्रत्येक अवस्था के लोग—क्या बालक क्या युवा क्या जरा-जीर्ण—सभी आज इस विश्वमूर्ति के आँगन में आ उसे कृतज्ञता

प्रकट कर रहे थे। उसको दिव्य-दर्शन कर कलुष-मुक्त हो रहे थे। उसके पद-पद्मों में चढ़े पद्म शीश में रख कर मंगल-प्रार्थना करते थे। "है सत्संगति में सद्गति, वे आशीस्-सुमन साबित करते थे शिरोधार्य बन सुजनों के।" सब लोग मन्दिर की परिक्रमा कर अपना दुःख भूलते थे। श्री देवी जी से प्रार्थना कर अपनी दीनता प्रकट रहे थे, अपना अभिमान भंग कर रहे थे। आज क्षण क्षण में "जय दुर्गा-माता" "जय दुर्गा-अम्बा" का दिव्य-घोष वायु मण्डल को पवित्र करता हुआ उस शक्तिमती की अनन्यता स्थापित कर रहा था।

"शुभ-शंख वहाँ पर बज कर शंकित मानस को
कम्पित करता था प्रेम-प्रेरणा को पाकर।
औ' क्षुद्र - घण्टिका जड़ होकर भी वक्षःस्थल
थी वहाँ पीटती प्रेमोन्मत्त बनी प्रभु की।"

आज श्री दुर्गा देवी जी की मूर्ति भी अत्यन्त दिव्य दिखलाई देती थी। उनका शृंगार अत्यन्त सुन्दर लगता था। उनका अंचल पुष्पों से परिपूर्ण था। वे फूल मानों मनुष्यों की वांछाऐं थी, जिनसे श्री दुर्गादेवी जी का अंचल भरा हुआ था। दुर्गादेवी जी की मूर्ति मन्द मन्द मुसकाकर मानो अपने सेवकों को आशीर्वाद देती थी कि तुम्हारे वांछाओं के फूल सफल हों। उनके विशाल भाल पर मणिमुक्ताभिभूषित मुकुट अत्यन्त शोभा देता था। वह मानो उनके अर्ध-चन्द्राकार-ललाट पर सुधा-विन्दुओं का समुदाय था। मानों उनके दिव्य-मस्तक पर उनके उपासकों की शुभ-

चिन्ता के स्वेद-विन्दुओं का सुन्दर सीकर था। उनके गले का उज्ज्वल मणियों का हार उनकी सुन्दरता को द्विगुणित कर रहा था। वह मानो बतलाता था कि अनन्त दयामती जगज्जननी ने अपने भक्तों के लिए इतने कठिन कष्ट भी सहन कर रक्खे हैं। उनका रूप आज असामान्य प्रतीत होता था। आज श्री दुर्गा-देवी जी का स्वर्ण-कलश-प्रशोभी विशाल मन्दिर भी बहुत अच्छी तरह सुशोभित था। उसके चतुर्दिव्य-द्वार अरुण-वस्त्रावृत कदली के सुदृढ़ स्तम्भों से सजाए गए थे। प्रत्येक द्वार पर पवित्र पंचामृत-परिपूर्ण एक एक पुष्पावृत-स्वर्ण-कलश रक्खा था। मन्दिर का विस्तृत-प्रांगण भी बन्दरवारों से सुशोभित था। आज यह मनुष्यों से खचाखच भरा था।

धन्य! भगवति, तुम्हारी अनन्त महिमा है। तुम्हारा गुण-गौरव जग के कलुष हरता है। तुम्हारा ध्यान हृदय पवित्र करता है। तुम्हारी कृपा मनुष्य को त्रय-पापों से मुक्त करती है।

"मूक होय बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर-गहन।"

सायंकाल का समय था। दिनकर महाराज डूबने को तय्यार थे। मेला समाप्त हो गया था। सब लोग अपने अपने गृह को चले गए थे। विहग-राशि मधुर स्वर में श्री दुर्गा-देवी जी के गुण गा रही थी। आज आराम की शोभा अपूर्व प्रतीत होती थी। "हो पुष्प भार से नम्र लता" देवी जी के चरण-कमलों में अपना "पत्रं पुष्पम्" अर्पण कर रही थी। तरलंग के तट में आज

एक छोटी सी कुटी दृष्टिगत होती थी। यह पहिले से नहीं थी। ऐसा ज्ञात होता है कि यह हाल ही बनी है। कुटी के सामने एक योगी जी बैठे थे। उनके अंग-अंग से यौवन टपक रहा था। मुख की कान्ति परमोज्ज्वल थी। दृढ़ तथा सुपुष्ट बाहु थीं। अंग में एक गेरुवा रेशमी वस्त्र था। उसी से सारा अंग आवृत था। योगी जी ने धीरे धीरे गाना आरंभ किया :—

बाल काल में जिसको नभ से कुमुद-कला ने किलकाया।
फूलों ने है जिसे खिलाया, गीतों ने है फुसलाया।
कितनी ही नव नव गुड़ियों ने जिसको प्रतिदिन हर्षाया।
उसे आज तू निज छवि में ही केवल बाले ! न लुभाले।
और खिलौनों का भी भाग...
जिसकी सुन्दर-छबि ऊषा है, नव-वसन्त जिसका शृंगार।
तारे हार, व मुकुट सूर्य शशि, मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार।
मलयानिल-मुखवास, जलधि-मन, लोल-लहर लीला सुखमार—
उसी रूप को तू भी अपने कृश-बाहों में लिपटाले—
रमा अंग में प्रेम-पराग...

गाने की ध्वनि से सारा आराम गूँज उठा। योगी जी के अनुराग का राग अस्तासन्न रवि में प्रतिबिम्बित हो सारे आराम में फैल गया। आराम ने मानो गेरुवा वस्त्र पहिन लिया। गाना अब समाप्त हो गया था।

हाय ! दद्दा ! यह तुमने अपना कैसा वेष बना लिया है—कह कर सुफला युवा-योगी जी के सामने खड़ी होकर अश्रु टपकाने

लगी। आशा ने तो आज भविष्य को पहिले पहिचाना भी नहीं। जब उसने सुफला को ऐसा कहते सुना, उसने अपना मुख झुका लिया और वह भी सुफला की तरह आँसू बहाने लगी।

योगी---बैठो सुफला ! तुम इस समय यहाँ किस लिए आई ?

सुफला को भविष्य की यह दशा देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

सुफला---दद्दा ! तुम्हें क्या हो गया है ?

भविष्य---कुछ नहीं हुआ सुफला ! तू रोती क्यों है ? मुझे कुछ नहीं हुआ है।

सुफला---यह क्या वेष कर लिया है ? हाय ! हाय ! दद्दा तुम ऐसे कब से हुए ? मैं आज तक यहाँ क्यों नहीं आई !

भविष्य---सुन, सुफला, आज मैं तुझसे सब बातें कहूँगा। तू रो मत। जिस दिन तूने मुझसे अपनी सखी के विषय में कहा था उस दिन सचमुच मुझे अत्यन्त बुरा लगा। मेरे शिर में मानो अकस्मात अशनि-पात हुआ। मैं तब से कई दिनों तक पागलों सा इधर उधर फिरता रहा। मुझे कुछ कर्तव्य निश्चित नहीं हो सका। मैं रात दिन यही सोचता था कि जिसे मैं इतना प्यार करता था, जिसे मैं अपनी अर्धांगिनी मान चुका था, जिसके साथ मैंने बाल-काल ही से नाता जोड़ लिया था, जिसके साथ बातें करने को मैं दिन पर दिन लालायित होता जाता था, जिसे मैं अपना सब कुछ न्यौछावर कर चुका था, तथा जो मुझे इतने दिवसों तक प्यार करती रही वही जब इतने अल्प-काल में भूल गई है, मुझे छोड़ कर

किसी अन्य को प्यार करने लग गई है तो अब इस सम्बन्ध की क्या आशा ? इस प्रेम से क्या लाभ ? इस नाते से क्या सुख ?

मैंने आशा से अधिक प्यार इस संसार में किसी को नहीं किया। और मैं यह भी जानता हूँ कि आशा भी पहिले मुझे बहुत प्यार करती थी। क्योंकि मैं और यह बाल-काल से सदा साथ ही रहे, सदा साथ ही खेले कूदे। जब इतना चिर-सिंचित-सम्बन्ध भूल कर आशा ने मुझे अपने हृदय से उठा दिया तो मैं यही समझा कि यह प्रेम प्रेम नहीं है। यह प्यार प्यार नहीं है। मैं प्रेम की लीला अच्छी प्रकार पढ़ चुका था। मैंने बाल्यावस्था ही में अपने स्वर्गीय पिता जी से ध्रुव तथा प्रहलाद की कथाएँ सुन ली थीं। मुझे उस दिन मेरे पिता जी ने प्रेम के विषय में बहुत कुछ उपदेश भी दिया था। वह मेरे हृदय में अभी तक अंकित है। मैं जानता था कि---

जब जीवन के स्रोत सम्मिलित हो जाते हैं किसी प्रकार।
उन्हें नहीं तब विछुड़ा सकता कभी स्वयं तारक करतार॥

मैं इस विशुद्ध प्रेम को, इस पवित्र अनुराग को, इस नित्य नवीन बन्धु को, एक क्षणिक सुख से विमिश्रित कर शान्ति की आशा करने लगा था, आनन्द पाने की प्रतीक्षा करने लगा था, मैं उस अमर-अप्राप्त-धन को लोभ की दृष्टि से देखने लगा था, उससे कुछ लाभ की इच्छा करने लगा था, मैं उस अलभ्य-मुक्ता को स्वार्थ के कुश-सूत्र में गूँथकर गले का हार बनाने की चेष्टा करने लगा था। उस अनन्त शक्ति को माया के पाश में बाँधने

का प्रयत्न करने लगा था, उस रंग-हीन को मोह के मलिन रंग में रंजित करने लगा था। मैं अपने पिता जी का वह अमूल्य उपदेश मद-मत्त हो भूल गया था। इसी से मुझे कुछ कष्ट उठाना पड़ा। किन्तु जब मेरे शोक का वेग कुछ घटा तब मैंने सोचा कि इस प्रेम का पात्र कौन होना चाहिए। इसके उपयुक्त कौन है। मुझे किसके गले में बाहें डालनी चाहिए। वह कौन है जो प्रेमी को नहीं भूलता। जो आश्रित को निराश्रित नहीं करता। जिसके हृदय में प्रेम का अनन्त सागर समा सकता है। जिसके प्रेम में दुःख नहीं है, वियोग नहीं है, शोक नहीं है, पश्चात्ताप नहीं है, प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है। वह कौन है जिसकी 'प्रेम की अँगूठी नहीं खोती', जिसे सुधि नहीं दिलानी पड़ती, जिससे बोलने में संकोच नहीं होता, जो नित्य साथ ही रहता है।

वृद्ध पुजारी जी महाराज की उपदेश-सुधा ने मेरा मति-मल धो दिया। मैंने अपना पात्र ढूंढ़ लिया, वह अमूल्य रत्न पहिचान लिया। मैं बाल-काल ही से जिसकी गोद में था, जिसे कई प्रकार की क्रीड़ाओं से रिझाता था—उसे पा लिया। सुफला, मैं अपने चिर-संगी को भूल गया था।

आशा यह सुनकर अत्यन्त विह्वल हो गई। उसका हृदय दुःख से फटने लगा। वह मन ही मन कहने लगी—हाय ! मैं ही इसकी कारण हूँ। मैंने अपना भी सत्यानाश किया, उनका भी ! हाय ! हाय ! मैं अब क्या करूँ। मैंने उनकी लाख की जमींदारी राख में मिला दी। मैंने मणि-हार को काँच की माला समझ कर

हृदय से फेंक दिया। हाय! मैंने अलभ्य-रत्न को पत्थर का टुकड़ा समझ कर हाथ से खो दिया। हाय! मैं अत्यन्त दुराचारिणी निकली, अत्यन्त पापिष्टा निकली। अब मैं इस समय क्या कह कर क्षमा मांगू? मेरा अपराध अक्षम्य है। इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। हाय! मैं नरक की कीड़ा हूँ। हाय! अब मेरा क्या होगा? अब मैं किसकी शरण जाऊँ? अब ये मुझे स्वीकार थोड़ी करेंगे?

आशा इसी भाँति अत्यन्त शोकाकुल हो रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल-जल-धार बहने लगी। उसे यह सुधि न रही कि मैं इस समय कहाँ हूँ!

भविष्य से आशा की यह दशा न देखी गई। वे आशा से नम्र-स्वर में कहने लगे—

बहिन, रोओ मत। धैर्य रक्खो। वृथा अपने हृदय को पीड़ा न दो। तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हारा इसमें कुछ अपराध नहीं है। इसका दोषी मैं ही हूँ। मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा। तुम मुझे क्षमा करो।

आशा यह सुनकर फूट फूट कर रोने लगी। उसे अब तक बोलने का साहस नहीं होता था। किन्तु भविष्य के उपरोक्त-वचन सुन उसे धैर्य हुआ। वह मन ही मन कहने लगी—यदि इस समय न बोलूँगी तो कब बोलूँगी? मुझे यह लज्जा जब लगनी चाहिए थी तब नहीं लगी। तब तो मैं निर्लज्ज होकर अपने माथे कलंक लगा चुकी हूँ। अब इनसे बोलने में क्या लाज?

आशा भविष्य से कातर स्वर में बोली——

मुझे क्षमा करो, देव ! मुझ दासी को क्षमा करो। हाय ! मुझसे पहिले बड़ी भूल हुई। तब मुझे भले बुरे का ज्ञान नहीं रहा था। मेरी बुद्धि ने मेरा साथ छोड़ दिया था। तब मैं अज्ञानावस्था में थी। नाथ ! मुझे क्षमा करो। मैंने भूल कर घोर पाप किया। हाय ! हाय ! मुझे इस पाप का दण्ड मिल रहा है। मेरे हृदय में सहस्र-वृश्चिका-दंशन के समान पीड़ा हो रही है। मेरा कलेजा फट रहा है। इसका प्रायश्चित्त आपकी सेवा करने से दूसरा नहीं हो सकता। इस अनाथा को भी अपने चरणों में स्थान दो। नाथ! इसका और कौ——आशा का गला रुँध गया। वह आगे को कुछ नहीं कह सकी। वह वाक्-शून्य हो गई। आशा फूट फूट कर रोने लगी। सुफला भी आशा की यह दशा देख कर रोने लगी। उसका कोमल-हृदय यह करुणा-काण्ड न देख सका। वह भविष्य से कहने लगी——

दद्दा ! मेरी बहिन का अपराध क्षमा करो। उसे भिन्न न रक्खो। हाय ! वह अपने कृत्य का यथेष्ट-फल पा चुकी है। अब उसे अधिक-दुःख न दो। उसकी प्रार्थना स्वीकार करो। उसे अपनी कृपा से वंचित न रक्खो। संसार में भूल सभी करते हैं। चूक सभी के हिस्से में रख दी गई है। "दृष्टः किमपि लोकेस्मिन् न च दोषं न च निर्गुणम्।" आशा अभी लड़की ही है। इसके दोषों को न देख कर इसे क्षमा करो।

भविष्य——मैं पहिले ही कह चुका हूँ बहिन, आशा का इसमें

कुछ अपराध नहीं है। यह व्यर्थ दुःखी हो रही है। आशा! रोओ नहीं। तुमने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा है, मैं तुमसे लेशमात्र रुष्ट नहीं हूँ।

आशा——नाथ! मुझे क्षमा करो। मैंने घोर पाप किया है। मैंने तुम्हें व्यर्थ इतना कष्ट दिया। मैं हतभागिनी हूँ। जब तक आप मुझे क्षमा न करेंगे मेरा दुःख कम नहीं होगा। नाथ! मुझे भी अपने चरणों में स्थान दो। मैं आपकी सेवा कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करूँगी।

आशा भविष्य के चरणों में शिर रख कर रोने लगी। आज वह निस्संकोच अपने पाप का प्रायश्चित्त करने लगी। भविष्य ने अपने चरणों से आशा का शिर उठा लिया। वह कहने लगा——

उठो, बहिन! मैंने तुम्हें क्षमा किया। मैं तुमसे किसी प्रकार भी असन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं जानता हूँ उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। मनुष्य का हृदय ही चंचल होता है। उसे एक ओर को लगाना पहिले बड़ा कठिन होता है। तुम वृथा अपने चित्त को न दुखाओ, मैं तुम्हें अब भी उतना ही प्यार करता हूँ। मैं पहिले तुम्हें यथार्थ में प्यार नहीं करता था। जिस प्रेम में लालसा, क्षोभ, दुःख, विरह, आशंका, भय तथा चंचलता रहती है वह प्रेम यथार्थ में प्रेम नहीं है। वह एक प्रकार की आसक्ति है। यदि तुम मेरे ही साथ रहना चाहती हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु यह तुम्हारे लिए अत्यन्त कष्टकर होगा।

आशा——नहीं, नाथ! मुझे इसमें कुछ दुःख नहीं है। इससे

अधिक सुख मेरे लिए और क्या हो सकता है? मैं आपकी सेवा करके सारा जन्म आपके चरणों में व्यतीत करूँगी। आपके सदुपदेश सुन कर अपना जीवन सार्थक करूँगी। नाथ! अब मेरा सब दुःख गया। मैं आज से आपकी दासी हुई।

भविष्य—इसमें तुम्हारी इच्छा रही। मुझे कोई विपत्ति नहीं है। मैं तुमसे नहीं नहीं कह सकता। आज तक तुमने मुझे प्यार किया है, अब मैं तुम्हें निराश्रित नहीं कर सकता। ईश्वर तुम्हें बल तथा उत्साह दे।

सुफला—दद्दा! अपना गृह छोड़ और अपनी उतनी बड़ी जमींदारी त्यागकर इस कुटी में रहना क्या अच्छा होगा? यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो क्या ऐसा घर में नहीं हो सकता? इसी कुटी में क्या रक्खा है?

भविष्य—सुफला, तुम्हारा कहना ठीक है, पर मैं इस विषय में पहिले ही बहुत कुछ सोच चुका हूँ। मेरा यहाँ रहना ही उचित होगा। मैंने अपनी जमींदारी छोड़ नहीं दी है। वह मैंने अपने एक सुयोग्य मित्र को सौंप दी है। वह उसका प्रबन्ध कर देगा। मैंने उससे एक अनाथालय तथा एक विद्यालय खोल देने के लिए भी कह दिया है। वह इसका प्रबन्ध शीघ्र ही कर रहा है। बहिन, मेरी जमींदारी की आय का इससे सदुपयोग और क्या हो सकता है।

सुफला—दद्दा! तुम्हारे उदार हृदय को धन्य है। तुम्हारा चरित्र अत्यन्त पवित्र तथा निर्मल है।

भविष्य—यह सब तुम्हारी स्नेह-दृष्टि है बहिन, मैं तो केवल अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

सुफला—इससे अधिक और क्या हो सकता है। संसार में अपना कर्तव्य ही कितने लोग पालन करते हैं? तुम तो कर्तव्य पालन करने से भी अधिक बढ़ गए हो। तुमने दोनों का जीवन सुफल किया। तुमने आज प्राचीन ऋषियों का मार्ग ग्रहण किया।

अहा! दद्दा, इससे अधिक सुख और किसमें है? इससे अधिक आनन्द किसमें है? तुम्हारा साहस अपार है। तुम्हारा ध्रुव धैर्य है। निश्छल-प्रेम है।

भारत! तू धन्य है! तेरी सभ्यता का आलोक दिगन्त-व्यापी रहा है। तेरी समाज की सु-प्रथाएँ अत्यन्त-उज्ज्वल रही हैं। तू ज्ञान का आगार रहा है। सभ्यता का शिरमौर रहा है। तेरा यह 'मेल' अत्यन्त मंजुल है। सूर्य-मणि से भी उज्ज्वल है। जलकणों के समुदाय सिन्धुराज से भी प्रशान्त है। सदागति वाली सदागति से भी अनन्त गति है।

छोटे छोटे रोड़ों को जीवन-दान तू ने ही दिया। उन्हें साकार तूने ही किया। तूने ही ज्ञान तथा ध्यान के ध्रुव मिलाप से निराकार ईश्वर को साकार मनाया। अनन्त-वांछा का फल प्राप्त कर निर्गुण को सगुण सिद्ध कर दिया। तूने ही अत्यन्त-अद्भुत ज्ञान का अंजन बनाया। तूने केवल स्नेहाश्रुओं ही से महानन्द की रवि-नन्दिनी बहाई। तेरा आत्मज्ञान धन्य है। तेरी शिक्षा धन्य है।

तूने कनक में ध्यान न लगा केवल प्रस्थर के कण में ध्यान

लगा कर अनन्त ईश्वर के दर्शन किए। तेरा दिव्य-वस्त्र मणि-जटित दिव्याभूषण न रह केवल गेरुवा कपड़ा रहा। तूने गेरुवे रंग में सब रंग देख लिए। उस ऊषा के दिव्य-आलोक का रंग गेरुवा है। तूने ही पहिचाना था कि वह अलख का रंग है। ऊषा, तम तथा प्रकाश का दिव्य मेल है। कितना मधुर मेल है।

तेरा अंगराग बहुमूल्य द्रव्य न रह कर केवल काष्ट तथा राख रहा। तूने ही चन्दन का दिव्य महत्व जाना। जो विषधरों के लिपटे रहने पर भी विषमय नहीं होता। उसे अंग में लगाना मानो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषधरों से निर्भय होना है। तूने शरीर में राख लगा कर प्रकट किया कि बाह्य इच्छाओं का भस्म कर देना चाहिए। तेरा अलौकिक बल अनन्त है। तेरी कल्पना के कल्पतरु का मूल दिगन्तव्यापी है।

भविष्य सुफला की बातों को सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। सुफला आशा के अनुरोध से आज यहीं रही।

आशा को आज अपार सुख हुआ। उसने प्रेम को आज पहिचाना।